संस्कृति संगम

आचार्य क्षितिमोहन सेन
[शान्तिनिकेतन]

साहित्य भवन (प्राइवेट) लिमिटेड
इलाहाबाद

तृतीयावृत्ति : १६५७ ईसवी

तीन रुपया

मुद्रक : रामआसरे कक्कड़
हिन्दी साहित्य प्रेस, इलाहाबाद
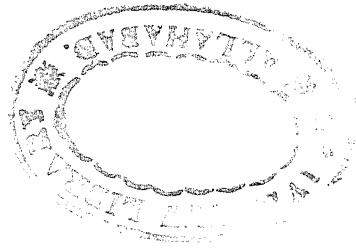
आचार्य क्षितिमोहन सेन

आचार्य क्षितिमोहन सेन मध्ययुगीन भारतीय धर्म-साधना के बहुत बड़े पंडित हैं। केवल पुस्तकों तक ही उनकी ज्ञान-पिपासा सीमित नहीं है। भारतवर्ष के प्रत्येक भाग में जाकर उन्होंने साधकों से परिचय प्राप्त किया है, प्राचीन सन्तों की मौखिक परंपरा से प्राप्त वाणियों का जो रूप चला आ रहा है उसका संकलन किया है और उनकी ओर आधुनिक पण्डित-मंडली का ध्यान आकृष्ट किया है। आचार्यजी का जन्म काशी में हुआ था, उनका परिवार विद्या और चिकित्सा दोनों के लिए प्रसिद्ध था। फिर संयोग से उन्हें बाल्यकाल में महामहोपाध्याय प० सुधाकर द्विवेदी और महामहोपाध्याय प० गंगाधर शास्त्री जैसे पंडितों का सत्संग प्राप्त हो गया था।
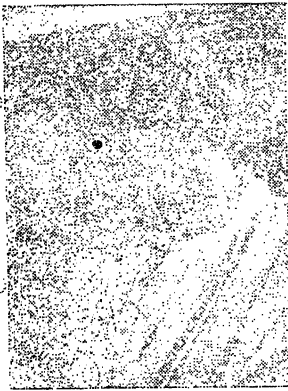
आगे चल कर वे कविगुरु रवीन्द्रनाथ के संपर्क में आए और उनके अत्यन्त अन्तरंगों में हो गए। शान्तिनिकेतन में वे दीर्घकाल तक अध्यापक रहे और अन्त में वहाँ के विद्या-भवन के अध्यक्ष थे। यद्यपि अब आपने अवकाश ग्रहण किया है पर शान्तिनिकेतन आपको छोड़ने

को तैयार नहीं है। इन दिनों, अवकाश ग्रहण करने के बाद आप वहाँ के 'कुलस्थविर' रूप में आश्रमवासियों में कर्म-प्रेरणा का संचार कर रहे हैं। उन्हे जहाँ प्रगाढ़ पाण्डित्य प्राप्त है वहीं उन्मुक्त सहज दृष्टि भी मिली है। इस प्रकार का मणि-काञ्चन योग प्रायः नहीं मिलता।

पिछले बीस वर्षों से मैं आचार्यजी के संपर्क में रहा हूँ। इस बीच मैंने उनकी अद्भुत ज्ञान-निष्ठा, मोहनकारिणी वाक्शक्ति, सरस लेखन-शैली, उदार हृदय और अपरिमित स्नेह का जो परिचय पाया है वह आश्चर्यजनक है। वे सन्त-साहित्य के पंडित ही नहीं है, स्वयं भी उसी परंपरा में पड़ते हैं। उनका भारतीय संस्कृति का अध्ययन बहुत विशाल है। वे कुछ थोड़े-से संस्कृत-ग्रंथों पर आश्रित तथ्यों को ही भारतीय संस्कृति के अध्ययन का प्रधान साधन नहीं मानते। भारतीय जनता इन तथ्यों से बड़ी है। अनेक जातियों और उप-जातियों की अनुश्रुतियों, आचार-परम्पराओं और अधभूले इतिवृत्तों का महत्त्व उनकी दृष्टि में कम नहीं है। इन बहुधा-विस्रस्त सामग्रियों के जंजाल में से सामाजिक और धार्मिक विकास की कथा खोज लेना बड़ा कठिन काम है। आचार्यजी की तीक्ष्ण दृष्टि इन आवरणों को सहज ही भेद कर सत्य तक पहुँच जाती है। जिन लोगों ने उनकी 'भारतवर्ष में जाति भेद' नामक पुस्तक को पढ़ा है वे ही इस बात की सचाई का अनुभव कर सकेंगे।

उनकी यह दूसरी हिन्दी पुस्तक 'संस्कृति-संगम' प्रकाशित हो रही है। पाठक इसमें भी आचार्यजी की अद्भुत तीक्ष्ण दृष्टि और व्यापक अध्ययन का पता पायेंगे। यद्यपि आचार्य क्षितिमोहन सेन हिन्दी सन्तों के सम्बन्ध में निरंतर खोज करते रहे हैं पर वे लिखते अधिकतर बंगला में ही रहे हैं। कविगुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर को हिन्दी सन्तों से परिचित कराने का श्रेय आचार्यजी को ही है। कवि ने लिखा है—'मैं अपने अपरिचित हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में विशुद्ध रस रूप की खोज में था। ऐसे ही समय एक दिन क्षितिमोहन सेन महाशय के मुख से बघेलखण्ड के कवि ज्ञानदास के दो-एक हिन्दी पद सुनने को मिले। मैं कह उठा—"यही तो मुझे चाहिये था। विशुद्ध वस्तु एकदम चरम वस्तु—इसके ऊपर

अब तान नहीं चल सकता!" कबीर, दादू आदि सन्तों के संबंध में उनकी पुस्तकें बंगला में ही हैं। इसीलिये हिन्दी पाठक उन पुस्तकों का रसास्वादन नहीं कर सकते। यदा-कदा हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में उनकी एकाध रचनाएँ प्रकाशित हो जाती हैं। हिन्दी पाठकों के उतने से ही सन्तोष करना पड़ता है। बंगला में तथा अन्य भारतीय भाषाओं में हिन्दी सन्तों के संबंध में पुस्तकों का होना बहुत आवश्यक है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार अन्य भारतीय भाषाओं के कवियों और साधकों की रचनाओं के संबन्ध में हिन्दी में पुस्तकों का लिखा जाना आवश्यक है। ऐसा हुए बिना हम भारतवर्ष को उसके संपूर्ण रूप में उपलब्ध नहीं कर सकेंगे। इस दृष्टि से देखें तो आचार्य सेन के ग्रन्थों का बहुत अधिक महत्व है। ये ग्रंथ भारतीय भाषाओं को परस्पर निकट ले आने के शक्तिशाली साधन हैं। फिर भी आवश्यक है कि इन ग्रंथों से हिन्दी पाठक भी परिचित हों। इसलिए मैं बहुत दिनों से सोच रहा था कि आचार्यजी की पुस्तकों का हिन्दी रूपान्तर भी प्रकाशित होना चाहिये।

आज से लगभग दस वर्ष पूर्व मैंने आचार्यजी की प्रथम हिन्दी पुस्तक 'भारतवर्ष में जातिभेद' का सम्पादन किया था। अनेक अन्य कार्यों में फँसे रहने के कारण मेरी इच्छा पूरी नहीं हो सकी। आज साहित्य-भवन के प्रकाशनाध्यक्ष भाई नर्मदेश्वरजी चतुर्वेदी के उद्योग से यह दूसरी पुस्तक 'संस्कृति संगम' प्रकाशित हो रही है। मैं इस शुभकर्म के लिए नर्मदेश्वरजी को अनेक बधाई देता हूँ। अपने बड़े भाई पं० परशुराम चतुर्वेदी की भाँति वे भी सन्तों की खोज कर रहे हैं। अन्तर इतना ही है कि वे मरे सन्तों की खोज में लगे हैं और ये जीवित सन्तों की। आचार्य क्षितिमोहन सेन आधुनिक युग के सन्त ही हैं।

पाठक इन लेखों में आचार्य सेन के अद्भुत पाण्डित्य और तीक्ष्ण दृष्टि का परिचय पायेंगे ही वे उनके अपूर्व मानव-प्रेम और सहज भाव का भी परिचय पाएँगे। ये लेख केवल शुद्ध पंडित की ज्ञान-चर्चा नहीं है, इनमें 'मनुष्य' के प्रति आचार्य सेन के अटूट विश्वास और दृढ़ निष्ठा का परिचय भी पाएँगे। साथ ही अपने देश की उस महती प्रतिभा का

साक्षात्कार पाएँगे जो विषम परिस्थितियों में अपना रास्ता निकाल लेती है और अनैक्य के भीतर ऐक्य का संदेश खोज लेती है। आचार्य सेन ने दिखाया है कि न जाने किस पुराने युग से कितनी ही मानव-मंडलियाँ इस देश में अपने आचार-विचारों और संस्कारों को लेकर आई हैं, कुछ देर तक एक दूसरे के प्रति शंकालु भी रही हैं पर अन्त तक भारतीय प्रतिभा ने नानात्व के भीतर से ऐक्य-सूत्र खोज निकाला है। संतों-महात्माओं की सहज दृष्टि प्रत्येक युग में बाह्य जंजाल के नीचे गुप्त रूप से प्रवहमान प्राणधारा का संधान पाती रही है। आशा करनी चाहिए कि आचार्यजी की अन्य पुस्तकें भी धीरे-धीरे प्रकाशित होंगी।

काशी विश्वविद्यालय
फाल्गुन शुक्ल एकादशी,
संवत् २००७

हजारीप्रसाद द्विवेदी

आचार्य सेन

सांस्कृतिक मिलन के प्रयासियों से—

आज चारों ओर महादुर्गति का दिन है। मनुष्य का ज्ञान और उसकी शक्ति, उसके प्रेम और साधना को अतिक्रम करके उच्छृङ्खल हो गए हैं। इसीलिए आज दुःख का अन्त नहीं है। समूची मानव-सभ्यता आज संकटापन्न है।

एकमात्र आशा की बात यह है कि प्रत्येक देश में एक-आध महापुरुष राष्ट्रीयता के ऊपर उठकर विश्व-मानवता के सत्य के नाम पर सबको सहयोग के लिए पुकार रहे हैं। इसीलिए जातीयतावाद की ओर से वे आज बहुत लांछित हुए हैं। फिर भी कोई दुःख, कष्ट, अपमान या लांछना उन्हें चुप नहीं कर सकी है, कर सकेगी भी नहीं, क्योंकि उनके कंठ में आज विधाता की वाणी ध्वनित हो रही है।

राजनीतिक दृष्टि से एक ऐसा भी समय आया है, जब मिलन की यह पुकार निरर्थक मालूम होती थी; किन्तु आज यह बात सभी समझ रहे हैं कि संसार में भयंकर दुर्दिन आ रहा है। वर्जनशील राजनीति अधिक दिनों तक मानव-जाति का रक्षा नहीं कर सकती।

परस्पर को अगर हम न जानें, तभी हमारा सर्वनाश उपस्थित होता है। महाभारत का प्रलय-युद्ध कुरुक्षेत्र में हुआ। अठारह अक्षोहिणी सेना वहाँ निर्मूल हो गई, भारत की समस्त शक्ति वहाँ समाप्त हो गई, उसी दिन से इस देश के सर्वनाश का मार्ग प्रशस्त हो गया। किन्तु इसकी जड़ में और कुछ नहीं था,—था केवल परिचय का अभाव।

कर्ण और अर्जुन दोनों सहोदर भाई थे। दोनों ही महारथी थे; लेकिन एक दूसरे को भाई न समझने के कारण ही पारस्परिक संघर्ष का अवसर मिला। उसी संघर्ष से महाभारत की प्रलयाग्नि जल उठी।

इस युग में उसी प्रलयाग्नि का पुनरभिनय न हो, इसीलिए विश्व-भारती के भीतर से रवीन्द्रनाथ की वाणी आज सारे भारतवर्ष को पुकार

रही है, सारे विश्व को पुकार रही है—'सभी इस साधना की वेदी पर समवेत हो, परस्पर एक दूसरे को समझो, भाई के साथ भाई का जो अपरिचय है, द्वन्द्व है, दुर्गति है, उसका अवसान हो !'

उनका यह अमोघ मन्त्र क्या आकाश में निरालम्ब होकर बहता फिरेगा ? यदि आज भी इस साधना का आरम्भ न हो, तो फिर आज नवयुग कैसा ?

इसीलिए जो लोग मिलन की यज्ञ-वेदी के पास एक-एक संस्कृति और साधना को अग्रसर करते आ रहे हैं, वे भविष्य के लिए एक महातीर्थ की रचना कर रहे हैं। वे हम सबसे प्रणम्य हैं, उन्हें नमस्कार !

यहाँ वैदिक, अवेस्तिक, बौद्ध, वैष्णव आदि साधनाएँ एकत्र हुई हैं। इस्लाम की साधना भी आ पहुँची है। तिब्बत, चीन, और बृहत्तर भारत की साधनाएँ यहाँ मिश्रित हुई हैं। प्रान्तीयता की क्षुद्र सीमाएँ यहाँ क्या धीरे-धीरे लुप्त नहीं हो जायेंगी ? बड़े दुःख के साथ कबीर ने कहा था—"बेड़ा ही खेत खाय।" यह दारुण 'बेड़ा' जिनकी सहायता से टूटने जा रहा है, वे प्रणम्य हैं, उन्हें नमस्कार।

समग्र भारतवर्ष के लिए इस प्रकार के मिलन की कितनी ज़रूरत है, यह बात कहकर नहीं बतायी जा सकती। भिन्न-भिन्न प्रदेशों के लिए भी इस मिलन का होना नितान्त आवश्यक है, बिना इसके काम नहीं चलने का।

जो लोग सनातन वर्जनशीलता पर अभिमान किया करते हैं, उन्हें याद दिला देना चाहता हूँ कि विष्णु ही हमारे परम देवता हैं, विष्णु का अर्थ ही है व्यापक, जो सर्वत्र व्याप्त हैं, उन्हीं विष्णु के सेवक वैष्णव होकर भी हम यदि अपने को क्षुद्र सीमाओं में बन्द कर रखना चाहें, तो यह बात निश्चय ही अवैष्णवजनोचित आचरण होगी।

सार्थकता की दृष्टि से देखा जाय, तब भी यह पद्धति एकदम निष्फल है। चीन के माली नया रास्ता पकड़ना नहीं चाहते, जो-कुछ पुराना है, उसी पर चिपके रहना चाहते हैं ; किन्तु वे भी खेत के लिए अन्यान्य देशों के नए-नए बीज खोजते हैं। कारण पूछने पर कहते हैं कि बीज यदि पुराना हो, या बाहर से न मँगाया जाय, तो फसल अच्छी नहीं

होती, उसमें फल अच्छे नहीं लगते। इसीलिए अपने गोत्र में विवाह निषिद्ध है। विज्ञान-शास्त्र के अनुसार भी यह एक जीव-शास्त्रीय सत्य है।

संस्कृति की दुनिया में यह सत्य और भी अधिक सार्थक है। राजनीति में जिस मिलन की बात सुनाई देती है, वह साही के आलिंगन-जैसा है। कोई किसी के पास आने की हिम्मत नहीं करता है। सभी सबको कदर्य भाव से ग्रास बनाना चाहते हैं। यहाँ मात्स्यन्याय की चरम बीभत्सता विराजमान है।

युग-युग से भारतवर्ष में धर्म की बगल में धर्म और मत के साथ दूसरा मत विराजमान रहा है और एक दूसरे को अनुप्राणित करता रहा है, लेकिन किसी ने किसी को ग्रास नहीं बनाया। दूसरे को ग्रास बनाकर स्फीत होने की प्रथा भारतीय नहीं है। इसीलिए उस प्रकार की संस्कृति-सम्बन्धी मिलन की बात समझने में इस देश के आदमियों को कोई असुविधा नहीं होगी।

प्रेम के मिलन क्षेत्र में इन बीभत्सताओं और नीच प्रवृत्तियों को स्थान नहीं है। यहाँ तक कि इस मिलन में कौन बड़ा और कौन छोटा है, यह सवाल ही नहीं उठता। प्रेम-मिलन में वर और कन्या दोनों ही परस्पर के पूरक हैं। तुलना की तो वहाँ पर बात ही नहीं उठती, वहाँ दोनों ही 'वागर्थाविव संपृक्तौ'—वाणी और अर्थ की तरह मिले हुये हैं। तुलसी-दास के शब्दों में—

गिरा अर्थ जल बीचि सम, कहियत भिन्न-न-भिन्न।

यहाँ शिव और शक्ति के मिलन बिना शिव और शक्ति दोनों ही व्यर्थ हैं, क्योंकि 'शिवः शक्त्या युक्तः प्रभवतिः। न चेदेवं देवः कथमपि समर्थः स्पन्दितुमपि।' अर्थात् शिव शक्ति के साथ रहकर ही समर्थ हैं, नहीं तो वे हिल सकने में भी समर्थ नहीं।

यही साधना जीवन की साधना है। उसका आरम्भ अति क्षुद्र हो सकता है, किन्तु परिणाम में वह इतना क्षुद्र बीज में ही भविष्यत् महारण्य निहित होता है, इसलिए क्षुद्र आरम्भ देखकर चिंता करने की कोई बात नहीं।

अब्दुर्रहीम खानखाना को एक मामूली ग्रामीण कन्या ने अन्तर की

व्यथा को जिस प्रकार सुना दिया था, उसी बात को आज सभी को सुना देना चाहता हूँ—

प्रेम प्रीति को बिरवा चल्यौ लगाय ;
सींचन की सुधि लीजौ मुरझि न जाय ।

इस नवीन अंकुर को जो लोग नाना भाव से बचा रखने की साधना में सदा यत्नशील होंगे, वे हमारे प्रणम्य हैं । हम उन्हें नमस्कार करते हैं ।

प्राण की यह पुकार, जान पड़ता है, सबके अन्तर में पहुँच रही है । किसी के हृदय में पहले, किसी के बाद में । सर्वसाधना के योग की इस पुकार पर अगर हमने अपना कर्त्तव्य नहीं किया, फिर बचने की आशा कहाँ ? उनकी पुकार समुद्र की पुकार है । हम प्रत्येक उसके एक-एक बिंदु हैं, फिर भी प्रत्येक के भीतर आकर उनकी पुकार ध्वनित हो रही है ।

उसी पुकार से व्याकुल होकर एक-एक बिन्दु यदि अकेले चल पड़े, तो उसे रास्ते में ही सूख मरना होगा । इसलिये प्राचीन काल के भक्त साधक रज्जब जी ने जो वाणी कही थी, वही हमें आज उच्चारण करना होगा—

"बुंद पुकारै बुंद को गति मिलै सँजोय ।"

सभी बिन्दु एकत्र हो सकें, तभी साधना की धारा अव्याहत भाव से सागर की ओर चलेगी । आज के इस व्रत में जब कि समस्त अलग-अलग छितराए हुये बिन्दुओं को एकत्र किया जा रहा है, इसमें जो लोग हमारी सहायता कर रहे हैं, वे प्रणम्य हैं, उन्हें नमस्कार !

विधाता की कृपा से एवं समस्त प्रेमीजन की सहायता से हमारी यह योग-साधना कभी अवरुद्ध न हो, नित्य ही सामने की ओर अग्रसर होती चले, बारम्बार भगवान् के निकट यही हमारी आंतरिक प्रार्थना है । मङ्गलमय भगवान् को बार-बार नमस्कार है !

—लेखक

अनुक्रम

एक भारतीय संस्कृति के निदर्शन

इस विशाल महादेश की संस्कृति का अध्ययन करने के लिए पंडितों ने नाना दिशाओं में प्रयत्न किए हैं। किसीने भिन्न-भिन्न प्रदेशों में फैली हुई भाषाओं और उनके साहित्य का अध्ययन किया है, किसी ने धर्म-मतों और सम्प्रदायों की विशेषता की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया है, किसी-किसी ने राजनीतिक और जातिगत इतिहास की ओर प्रवृत्ति दिखाई है; परन्तु ये सारी बातें अत्यन्त आवश्यक होकर भी सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति का परिचय कराने में असमर्थ ही हैं। केवल इतिहास, केवल लोक-संख्या और केवल भाषा-विवृत्ति तो पर्याप्त हैं ही नहीं, सब मिलाकर भी कुछ कम ही रह जाते हैं। ज़रूरत है कि भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों और जन-समूहों के भीतर जो योगायोग है, परस्पर के प्रभाव और प्रतिपत्ति का संकोच-प्रसार है उसका जीवन्त इतिहास जाना जाय। इस प्रकार के अध्ययन के लिए सबसे उपयुक्त स्थान काशी है। यहाँ भारतवर्ष के सभी प्रदेशों और सभी सम्प्रदायों के लोग अपनी-अपनी विशेषताएँ लिये हुए वर्तमान हैं। काशी संक्षिप्त हिन्दुस्थान है। अन्याय-बड़े-बड़े शहरों में भी भिन्न-भिन्न प्रदेशों के लोगों का निवास है परन्तु वहाँ वे जीविका के लिए गए हुए हैं और अपनी-अपनी सांस्कृतिक विशेषताएँ प्रायः दबा कर रखते हैं। काशी में यह बात नहीं है। इसीलिए स्वर्गीय कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर जब सन् १९२३ ई० में काशी गए थे तो उन्होंने इस जीवन्त इतिहास के अध्ययन की बार-बार चर्चा की थी। यद्यपि मेरा कार्य-क्षेत्र दूसरा है तथापि मैं तभी से कुछ-कुछ इस ओर भी ध्यान देता आया हूँ। आज जबकि कवि स्वर्गीय हो गए हैं, उन्हीं

बातों को एक बार फिर विद्वानों को स्मरण करा देने के लिए ही यह लिख रहा हूँ।

वैदिक युग में भिन्न-भिन्न वेद और शाखाओं को आश्रय करके भिन्न-भिन्न ब्राह्मणादि जातियाँ भिन्न-भिन्न स्थानों में बसती थीं। जीविका के लिये ये शाखाएँ कभी-कभी सुदूर देशों को भी चली जाती थीं। उन दिनों किसी एक शाखा को माननेवाली जाति के लोगों में यदि दूसरी किसी शाखा का परिचय पाया जाता तो यह समझ लेना आसान था कि ये लोग कहीं बाहर से आकर बस गए हैं। अब समाज-व्यवस्था अधिक जटिल हो गई है और वैदिक शाखाएँ प्रायः भुला दी गई हैं। इसलिए आज शाखाओं के आधार पर यह पहचान सकना कठिन हो गया है कि कौन जन-समूह कहाँ से आकर बसा हुआ है। अब प्राचीन गृह्यसूत्रों द्वारा समाज का शासन नहीं होता फिर भी निबंधों के प्रचार से अब भी यह समझा जा सकता है कि कोई जन-समूह वास्तव में किस प्रदेश के लोगों का निकट-सम्बन्धी है। यहाँ यह कह रखना आवश्यक है कि निबंधों की रचना बाद में हुई है। सूत्रों के बाद स्मृतियों का और उनके भी बाद निबंधों का प्रचलन हुआ है। इसलिए निबंधों के द्वारा जिन सम्बंधों का परिचय मिलेगा वह और भी हाल का होगा। इस प्रकार विचार किया जाय तो सारे भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न प्रदेशों से अद्‌भुत सांस्कृतिक और वर्णगत सम्मिलन का परिचय मिलेगा जो, मेरे विचार से, भाषा, साहित्य और शारीरिक समताओं की अपेक्षा कम वज़नदार प्रमाण नहीं है।

उदाहरण के लिए बंगाल, असम और मिथिला को लिया जाय। बंगाल में रघुनन्दन के निबंधों का प्रचलन है। इसे ग्रंथकार ने तत्त्व नाम देकर २८ खंडों में विभक्त किया है। इसीलिए इनको कभी कभी अष्टविंशति तत्त्व कहते हैं। काशी में समादृत होने के कारण 'मिताक्षरा' प्रायः समूचे भारतवर्ष में प्रचलित है परंतु बंगाल में उसका प्रभाव नहीं के बराबर है। यहाँ जीमूतवाहन का 'दायभाग' ही चलता है। नेपाल

एवं असम में भी यह निबंध समादृत है, और मिथिला में वाचस्पति मिश्र का मत प्रधान है। किन्तु यह ध्यान देने की बात है कि यद्यपि रघुनन्दन का मत सारे बंगाल में समादृत है तथापि उसके पूर्वी किनारे पर और श्रीहट्ट (सिलहट असम) में उसका प्रचार एकदम नहीं है। वहाँ मिथिला में प्रचलित वाचस्पति मिश्र का मत ही मान्य है। भाषा-शास्त्र का जिन्होंने अध्ययन किया है उनका भी कथन है कि श्रीहट्ट वस्तुतः मिथिला से होकर आयी हुई पश्चिम-भारतीय जातियों का उपनिवेश है। यहाँ पर नागरी अक्षरों में लिखी हुई अनेक बँगला पुस्तकें पायी गई हैं। मिथिला ही से ये जातियाँ यदि आयी होतीं तो उनकी लिपि नागरी न होती। मिथिला और बंगाल की लिपियाँ प्रायः एक ही हैं। इन लोगों के वंश में मिश्र, लाला आदि पश्चिम-भारतीय उपाधियाँ भी हैं। निबंधों के प्रचलन से भी उपयुक्त भाषा-शास्त्रीय मत की पुष्टि होती है, क्योंकि वाचस्पति मिश्र के निबंध का ऐसा प्रभाव बंगाल में और कहीं भी नहीं है। यह ज़रूरत है कि श्रीहट्ट से आरंभ करके मेघना नदी के किनारे-किनारे उत्तरी मैमनसिंह और नवाखाली ज़िलों में इसी मत का समादर है। इन स्थानों में रघुनन्दन का प्रभाव नहीं है। मिथिला की भाँति ही इन स्थानों के ब्राह्मण प्राचीन प्रथा के खूब भक्त हैं। बंगाल के दूसरे स्थानों के ब्राह्मण इतने कट्टर प्राचीनपंथी नहीं हैं। फिर इन्हीं प्रदेशों में पुराने ज़माने में बहुतर जातियाँ हिन्दू नहीं बन सकीं, बौद्ध ही बनी रहीं और बाद में चलकर धर्मान्तर में दीक्षित हुईं।

जिन लोगों का निबंध-साहित्य से परिचय नहीं है वे कभी-कभी कह दिया करते हैं कि स्मृतिकार और निबंधकारगण मन-गढ़न्त रीति-रस्मों की सृष्टि करते रहे हैं! लेकिन वास्तव में यह बात नहीं है। वस्तुतः समाज में जो सब नियमादि पहले से ही प्रचलित थे उन्हीं को, विशेष-विशेष स्थानों में दोष-त्रुटि दूर करके, तत्तत् स्थानों में सर्वमान्य होने योग्य एक शुद्ध-संस्कृत साधारण सामाजिक विधि का उन्होंने

प्रवर्तन किया है। निबंधकारों ने बाहर से लाकर समाज के सिर पर नूतन व्यवस्थाएँ नहीं लादीं बल्कि भीतर से लेकर उन्हें शास्त्र-पूत बनाया। यही कारण है कि सारे देश ने उन्हें आन्तरिकता के साथ स्वीकार किया।

देशाचार और शिष्टाचार के साथ इन निबंधकारों का कैसा संबंध रहा है, यह दिखाने के लिए नीचे कुछ मनोरंजक विवरण दिए जा रहे हैं।

मदनपारिजात नामक निबंध-ग्रंथ चौदहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में लिखा गया था। इसके लेखक विश्वेश्वर भट्ट पेदिभट्ट के पुत्र थे और व्यासारण्य मुनि के शिष्य थे। इनका गोत्र कौशिक था। दिल्ली के उत्तर में यमुना नदी के किनारे काष्ठापुरी में टाका-वंशीय राजा मदनपाल के आश्रय में यह ग्रंथ लिखा गया था। ग्रन्थकार ने अत्यन्त सावधानी से यह ग्रंथ लिखा था। बड़े यत्नपूर्वक इसमें मिताक्षरा का अनुसरण किया गया है और एक भी दक्षिणी आचार नहीं आने दिया गया है। देशाचार और स्थानीय शिष्टाचार के प्रति इतनी सावधानी दिखायी गयी है कि ग्रंथकार के स्वदेशीय आचार इसमें एकदम नहीं मिलते। समूचे उत्तर भारत में यह ग्रंथ आहत होता है।

दूसरी ओर, बहुत से दक्षिणदेशीय ब्राह्मण काशी में बस गए थे। शिव-पूजा-विषयक लिंग प्रतिष्ठा-विधि के रचयिता नारायण भट्ट के पिता रामेश्वर भट्ट का वंश दक्षिण से आकर काशी में बस गया था। दामोदर के पुत्र गौरीश भट्ट का जन्म महाराष्ट्र में हुआ था। इन्होंने काशी में ही अध्ययन किया था। सन् १६०६ ई० में अकबर के दरबार में ये सम्मानित हुए थे अनन्त-पुत्रराम देवज्ञ ने १६००-१६०१ ई० में मुहुर्त्त-चिंतामणि की और नीलकंठ ने व्यवहार-मयूख की रचना की थी। इनका पुराना निवास विदर्भ या बरार में था। महाराष्ट्र के चित्पावनवंशीय गोपाल के पुत्र विश्वनाथ ने काशी में ही सन् १७३६ ई० में व्रत-प्रकाश नामक ग्रंथ लिखा। रत्नमाला के रचयिता कृष्णभट्ट

आड़े भी काशीवासी थे। यद्यपि ये लोग काशी में बहुत दिनों से बस गए थे, तथापि इनके ग्रंथों में दक्षिणी प्रभाव खोजा जा सकता है।

इस प्रसंग में एक मजेदार इतिहास भट्ट गोविंदराज का है। इन्होंने अपनी लिखी हुई मनुस्मृति (२।२३) की टीका में यद्यपि आन्ध्र देश को म्लेच्छ देश कहकर निंदा की है और अन्यत्र "स्वर्वाहिनी पुलिन लाञ्छन लब्धकीर्तिः" अर्थात् गङ्गातीरवासी कहकर अपना परिचय दिया है, तथापि वे आन्ध्र-विरोधी किसी द्रविड़ प्रदेश के ही निवासी थे यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है। इनके पिता का नाम माधव भट्ट और पितामह का नारायण भट्ट था। इनकी लिखी हुई एक पुस्तक का नाम है स्मृतिमञ्जरी। इसमें उन्होंने मामा की पुत्री से विवाह करना विहित बताया है। इसी से समझ में आ जाता है कि वे द्रविड़ देश से ही आए थे। इस प्रकार विचार किया जाय तो अनेक ग्रंथकारों के मूल प्रदेशों की विधियाँ अनेक सावधानी बर्तने पर भी रह ही गई हैं। फिर भी साधारण नियम यह जान पड़ता है कि जिस-जिस प्रदेश में चलित विधियों को लेकर निबंध की रचना हुई है उसी प्रदेश में वह निबंध मान्य हुआ है। दक्षिण के शास्त्रकारों ने मामा और बुआ की कन्या से विवाह का विधान किया है और उत्तर में प्रचलित ग्रंथों के लेखकों ने इस बात की दक्षिणी आचार कहकर उपेक्षा की है। पञ्चनद के हिमालय प्रदेश में ब्राह्मण लोग क्षत्रिय कन्या से विवाह कर सकते हैं पर देश के अन्य भागों में यह विधि अचल है।

यद्यपि निबन्धों की रचना वेद, स्मृति और पुराणों के आधार पर ही हुई है तथापि निबंधकारों ने अपने-अपने संस्कृत विधानों के प्रवर्तन के समय देशाचार लोकाचार और कुलाचार की उपेक्षा नहीं की। करते तो शायद वे निबंध सर्वजन-समादृत होते ही नहीं। यही कारण है कि जब एक प्रदेश का जन-समूह किसी दूरवर्ती प्रदेश की ओर गया है तब साथ ही साथ अपने लोकाचार और कुलाचार के

समर्थक निबंध को ले जाना भी नहीं भूला। इसीलिए मानवधारा का सामाजिक और सांस्कृतिक गमनागमन निर्णय करने में इन बातों से विलक्षण तुलनात्मक दृष्टि पायी जाती है।

श्रीपाण्डुरंग वामन काणे महाशय ने "हिस्ट्री ऑफ़ धर्मशास्त्र" नामक एक अपूर्व ग्रंथ अंग्रेजी में लिखा है। बड़े ही परिश्रम और सावधानी से यह ग्रंथ लिखा गया है। यद्यपि भारतवर्ष के नाना प्रदेशों में प्रचलित निबंधादि किस प्रकार एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में जाते रहे हैं इस विषय की इस ग्रंथ में कोई आलोचना नहीं की गई है, तथापि जो कोई भी इस क्षेत्र में कार्य करना चाहे उसके लिए ग्रंथ से पर्याप्त सहायता मिल सकती है। मैंने तो इस विषय में पद-पद पर इस ग्रन्थ से सहायता ली है।

यहाँ यह कह रखना आवश्यक है कि जहाँ तक पंडितों का प्रश्न है, सभी निबंध-ग्रन्थ समादरणीय हैं। एक प्रदेश का विद्वान् केवल अपने देश के प्रचलित निबंध को ही प्रमाण मानेगा और अन्यान्य निबंधों को अप्रामाणिक कह देगा ऐसी बात नहीं है। फिर निबंध-कारों ने अपने पूर्ववर्ती निबंध-ग्रन्थों से पर्याप्त सहायता ली है। प्रायः प्रत्येक निबंध पर उसके पूर्ववर्ती निबंधकार का ऋण है। यहाँ जब भिन्न प्रदेश के निबंधों से प्रादेशिक विशेषताओं के निर्णय की बात कही जाती है तो वास्तव में साधारण जनता की बात कही जाती है, क्योंकि साधारण जनता ही वास्तव में हमारे अध्ययन की वस्तु है।

जिस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रदेशों में प्रचलित निबंधों से और लोका-चारों से एक-एक संस्कृति की धाराओं का परिचय मिलता है उसी प्रकार उन-उन स्थानों की धर्म-विधि और पूजा-उपासना आदि की विधियों से भी इन सांस्कृतिक धाराओं का परिचय मिलता है। भाषा शास्त्र के विद्वान् केवल भाषा-शास्त्रीय प्रमाणों के बल पर प्रादेशिक संस्कृति का जो रहस्य-उद्घाटन करते हैं उसे इन विधियों से मिलाकर साफ़ कर लें तो अधिक निश्चयपूर्वक उनके निर्णय को मान लिया

जा सकता है। गुजरात और बंगाल आदि प्रदेशों में कुछ-कुछ भाषा सम्बन्धी समानता है, फिर धर्मगत और जातिगत समानता भी कम नहीं है। श्री देवदत्त रा० भण्डारकर महाशय ने बताया है कि गुजरात के नागर ब्राह्मण श्रीहट्ट (सिलहट असम) से वहाँ जाकर बसे हैं। इसका प्रमाण उनके ताम्रशासन आदि से मिलता है। फिर अनेक ब्राह्मणों की उपाधियों में भी घोष, मित्र आदि वे उपाधियाँ वर्तमान हैं जो बंगाल के कायस्थों में पायी जाती हैं। श्रीहट्ट के शिव हाटकेश्वर कहलाते हैं और नागर लोगों के उपास्य देवता भी हाटकेश्वर ही हैं। इन समानताओं से बहुत-सी बातें सूचित होती हैं। गौड़ से चलकर अनेक सारस्वत ब्राह्मण महाराष्ट्र और कर्णाट आदि देशों में बस गए हैं। वे लोग अपने को गौड़ सारस्वत कहा करते हैं, मछली खाते हैं और देवी की पूजा करते हैं। फिर इनकी भाषा में भी कुछ-कुछ गौड़ीय चिह्न वर्तमान हैं। इसी प्रकार बंगाल से दसवीं शताब्दी में कुछ ब्राह्मण जाकर गढ़वाल में बस गए थे और कुछ ब्रह्मा में भी चले गये थे। खोज करने पर अब भी उनमें कुछ-न-कुछ बंगाली प्रभाव मिल ही जाएगा।

इन दिनों भी मनुष्य-गणना की रिपोर्ट से जाना जाता है कि बहुत-सी ब्राह्मण-शाखाएँ नीची जातियों से ऊपर उठी हैं। अनेक स्थानों पर उनकी रीति-नीति ही उनके पूर्ववर्ती प्रदेश और पूर्ववर्ती श्रेणी का पता बताती हैं। कोंकणस्थ ब्राह्मणों के विषय में कहा जाता है कि परशुराम ने श्राद्धकाल में साठ व्यक्तियों को चिता से उठा कर ब्राह्मण बनाया था (विल्सन् : ह्राट् कास्ट्स आर, पृ० १६)। डाक्टर भाण्डारकर का कथन है कि ये लोग एशिया माइनर से आए हुए हैं। इनका जहाज समुद्र में डूब गया था, तब ये भारतवर्ष के पश्चिमी किनारे पर उतरे थे। पहले उन्हें हिंदुओं ने समाज में ग्रहण नहीं किया। बाद में परशुराम की कृपा से ये ब्राह्मण हुए। जबल या जाबाल लोग भी, कहते हैं, पहले कुनबी थे, बाद में पेशवाओं के

किसी संबंधी परशुराम ने उन्हें ब्राह्मण बनाया (विल्सन, पृ० २७) । राजपूताना, सिंध और गुजरात में बहुत से पुष्करण या पोखरना ब्राह्मण हैं । पुष्कर नामक ह्रद को जिन्होंने कुदाल लेकर खोदा था, बाद में उन्हीं लोगों को पोखरना ब्राह्मण बना दिया गया । विल्सन ने लिखा है कि गुजरात के अभ्भीर ब्राह्मण वास्तव में राजपूत वंश के हैं । ये लोग आभीरों के पुरोहित हैं (पृ० १२०) । भारतवर्ष में अनेक कृषक श्रेणी के ब्राह्मण हैं जिनके विषय में यह धारणा प्रचलित है कि वे पहले खेतिहर थे, बाद में ब्राह्मण बन गए हैं । मैंने अपनी पुस्तक 'भारतवर्ष में जातिभेद' में इस प्रकार की बहुतेरी जातियों के उत्थान-पतन का विस्तृत विवरण दिया है । यहाँ उन बातों को दुहराने की आवश्यकता नहीं, परन्तु इतना आसानी से समझा जा सकता है कि भारतीय समाज का निर्माण भी ऐतिहासिक विकास के रूप में हुआ है । वह हमेशा से चली आती हुई किसी सनातन अटूट व्यवस्था का परिणाम नहीं है । उन-उन जातियों की आचार-परंपरा में इस बात की समर्थक और भी बहुत-सी बातें पायी जा सकती हैं ।

भिन्न-भिन्न प्रदेशों में भिन्न देवताओं की पूजा प्रधान है । गणपति की पूजा वैसे तो सारे भारतवर्ष में चलती है फिर भी महाराष्ट्र में अपेक्षाकृत अधिक है । बंगाल में देवी-पूजा की धूम होती है, द्रविड़ देश में कातिकेय या सुब्रह्मण्य की पूजा विशेष रूप से प्रचलित है, उत्तर प्रदेश और गुजरात में हनुमान् की पूजा का आडम्बर अधिक है । विष्णु का कृष्ण रूप बंगाल और गुजरात में ज्यादा समादृत है और राम रूप उत्तर-पश्चिम प्रदेशों और बिहार में अधिक । इन देवताओं की जहाँ प्रधानता है वहाँ यदि कोई एक ऐसा छोटा जन-समूह दिख जाय जो वहाँ के प्रचलित देवता की अपेक्षा किसी अन्य प्रदेश के प्रचलित देवता की उपासना कर रहा है तो सन्देह किया जा सकता है कि वह जन-समूह दूसरे ऐसे प्रदेश से आया है जहाँ उसके उपास्य देवता की पूजा अधिक प्रचलित है ।

पूर्वी बंगाल में सर्वत्र श्रीकृष्णावतार की ही पूजा होती है परन्तु मैमनसिंह जिले के शेरपुर में रघुनाथजी के मंदिर की ही मान्यता है। बाँकुड़ा, पंचकोट और मानभूम जिलों में रामावतार और हनुमान् की पूजा बहुत प्रचलित है। पंचकोट के राजा की राजधानी का नाम ही रघुनाथपुर है। इससे उपर्युक्त प्रकार का अनुमान ही पुष्ट होता है।

केवल उपास्य देवता से ही नहीं, पूजा की विधि से भी बहुत कुछ अनुमान होता है। बंगाल में जो लोग पार्थिव शिवलिंग की पूजा करते हैं वे अन्यून अंगुष्ठ-परिमाण शिवलिंग का निर्माण करके उसके सिर पर एक छोटा-सा गोलाकार 'वज्र' रखते हैं। इस वज्रसमन्वित लिंग को बिल्वपत्र पर बैठाकर आचमनपूर्वक नारायणार्चना करके गणेशादि पंच-देवताओं का पाँचों-उपचार सहित पूजन करते हैं। फिर 'नमो हराय नमः' कहकर लिंग के मस्तक पर जरा-सा जल देकर एक बिल्वपत्र से 'वज्र' को उतार देते हैं। फिर 'नमो महेश्वराय नमः' कहकर लिंग का मस्तक जरा दबा देते हैं। फिर 'नमः शूलपाणये इह सुप्रतिष्ठो भव' कहकर अक्षत-धान्यादि से पूजन करते हैं (आह्निक-कृत्यम्, श्यामाचरण कविरत्न-संकलित, नवम संस्करण, पृ० ६८-७०)। इस 'वज्र' को हटाने का रहस्य क्या है? शिव हिमालय के कैलास के देवता हैं। पर 'वज्र' सह शिव की बात उठते ही वज्रयान की बात याद आ जाती है। क्या वज्र हटाने का अर्थ यह है कि वज्रयान मत का 'वज्र' हटा कर ही वास्तव शिव का पूजन किया गया? असम और नेपाल के शिव-भक्तों को काशी में 'वज्र' सहित शिव की पूजा करते मैंने देखा है। उड़ीसा में भी 'वज्र' सहित शिवलिंग बनता है। द्रविड़ देश में सैकत लिंग के ऊपर वज्रस्थापन करते नहीं देखा। इस प्रकार इन पूजार्चन की विशेषताओं से सांस्कृतिक धाराओं का पता लग सकता है।

पूजार्चन विधियों की भाँति पूजा के पुरोहित भी बहुत महत्वपूर्ण

हैं। देवताविशेष के पुजारी अब भी जातिविशेष के लोग हैं। कभी-कभी उनका अंश सामान्य ही होता है और कभी-कभी काफी अधिक। उदाहरणार्थ देवीपूजा और तंत्रमत धीरे-धीरे वैदिक मत के पास बाहर से आकर खड़े हुए हैं। वैदिक आचार्यगण तो उन्हें शास्त्र और सदाचार के विरुद्ध ही समझते रहे हैं। मूल आर्यभूमि से क्रमशः दूर बढ़ने पर इन वस्तुओं के साथ आर्य लोगों का योग हुआ था। इच्छा से हो या अनिच्छा से, इन मतों को ग्रहण करने के सिवा उनके पास कोई चारा न था। इसीलिए आज वैदिक सन्ध्या के साथ-साथ तांत्रिक सन्ध्या का प्रचलन प्रायः समूचे भारतवर्ष में है। गुजरात में मैंने देखा है कि ब्राह्मणों के यहाँ भी प्रति परिवार में एक कुलदेवी हैं। बहुत जगह ये कुलदेवियाँ कुएँ की दीवारों में गुँथी हुई हैं। आज इसी प्रकार ग्रामदेवताएँ जिनकी पूजा शास्त्र-निषिद्ध है, धीरे-धीरे हिन्दू-समाज में मुख्य-स्थान अधिकार कर सकी हैं। आज इन 'बाहरी' देवताओं की ठेलमठेल इतनी बढ़ गई है कि बेचारे वैदिक देवताओं को ही अलग रहना पड़ा है। इन देवबाह्य देव-देवियों की पूजाओं के पुरोहित भी आर्येत्तर जाति के लोग ही हुआ करते थे। शुरू-शुरू में ब्राह्मण लोग इसके विरोधी थे परन्तु धीरे-धीरे उन्हें भी इनका सम्मान करना पड़ा। दक्षिण में स्त्रियाँ देव-मन्दिर की पुरोहिता हुआ करती थीं क्योंकि वहाँ के समाज में स्त्री का ही प्रधान्य था। उस मातृ-तंत्र देश में जब वैदिक धर्म पहुँचा तब भी स्त्रियों के 'चारुपुटौष्ठ' से 'विधूयमान' हुए बिना अर्थात् उनके सुन्दर अधरों की हवा पाए बिना अग्निदेवता प्रज्वलित ही नहीं होते थे। (महाभारत, सभा०, ३०।२८-२६)। वे ही देवताओं की साधिकाएँ थीं। आज उनकी देव-सेवा का अधिकार धीरे-धीरे ब्राह्मण के हाथों में चला गया है। आज भी कहीं-कहीं किसी-किसी देव-मन्दिर में आर्येतर जाति के लोग पुजारी हैं। स्वयं जगन्नाथ देव के विशेष-विशेष उत्सवों के अवसर पर 'दैत' नामक जाति की सेवा आवश्यक है। घुर्ये ने बताया है कि

तमिल देश के कितने ही अत्यन्त निष्ठावान् शुद्धाचारी शैव मन्दिरों में भी पारिया लोग ही विशेष-विशेष उत्सवों के अवसर पर सामयिक भाव से प्रमुख करते हैं (Caste and Race in India, P. 26-27) । बंगाल के धर्मठाकुर की पूजा के पुरोहित ब्राह्मणेतर जाति के लोग होते हैं जिनकी सामाजिक मर्यादा बहुत निचले स्तर की है। ऐसी अनेक व्यवस्थाएँ खोयी हुई संस्कृति-धाराओं की याद दिला देती हैं।

इन और ऐसी अन्य बातों का अधिक विस्तृत विचार मैंने अन्यत्र किया है। यहाँ बहुत सूक्ष्म भेद-विभेदों में जाने का इरादा नहीं है। मैं विद्वानों से इतना ही निवेदन कर देना चाहता हूँ कि इस विशाल महादेश की समूची संस्कृति का अध्ययन करते समय इन जीवन्त विशेषताओं की उपेक्षा न की जाय। इस कोने से उस कोने तक फैले हुए विविध प्रकार के सामाजिक रीति-रस्म, पूजा-उपासना, व्रत-उपवास और शास्त्रीय मान्यता भी समूचे जन-समूह के अध्ययन के लिये नितान्त आवश्यक उपादान हैं। भिन्न-भिन्न प्रदेशों में एकता लाने के लिए बहुत प्रकार के प्रयत्न किये जा सकते हैं; और किए जा रहे हैं परन्तु इन आचारों और पूजा-पद्धतियों तथा निबंध-मान्यताओं के आधार पर जोर देकर कहा जा सकता है कि भाषागत प्रादेशिक भेद भी कोई ऐसा भेद नहीं है जो बहुत बड़ा करके दिखाया जा सके। एक प्रदेश में अन्य प्रदेशों की विधियों का आना सूचित करता है कि भाषा के कारण प्रदेश की चहारदीवारी को एकदम अनुल्लंघ्य नहीं समझना चाहिए। आज जो जन-समूह गुजराती बोलता है उसका बहुत निकट का सम्पर्क मथुरा वालों से हो सकता है, जो बंगला बोलता है वह महाराष्ट्रों या कर्णाटवासियों का अधिक नज़दीकी हो सकता है, जो असमी बोलता है वह हिंदी-भाषियों का अधिक निकटवर्ती हो सकता है। सारा देश पूजा-विधियों, नैबंधिक मान्यताओं और रीति-रस्म की मज़बूत रस्सियों से जकड़कर सी दिया गया है। इस रस्सी का एक टाँका पंजाब में मिलता है तो दूसरा

गुजरात में और तीसरा असम में। इन्होंने सारे देश को नाना भाव अविच्छेद्य और अविभाज्य बना रखा है।

समूची भारतीय जनता यद्यपि आज एक दूसरे से बहुत घनिष्ठ भाव से सम्बद्ध है तथापि यह नहीं समझना चाहिए कि यह सब प्रकार से मिलकर एकाकार रूप हो गई है। उसकी विशिष्ट बातें बहुत कुछ बनी हुई हैं। नाना मूलों से अनेक जातियाँ इस देश में आती रही थीं। आर्य और आर्येतर जातियों का महान् संगम ही भारतीय जनता है। हम आगे के अध्याय में इस महान् मिलन पर विचार करेंगे।

आर्य जाति का मिलन और संघर्ष

आर्यों के आगमन के पहले इस देश में नाग और सुपर्ण आदि आर्येतर जातियाँ ही प्रबल थीं। इन नागों और सुपर्णों के साथ आर्यों का विवाहादि सम्बन्ध खूब प्रचलित था। हम जानते हैं कि अर्जुन ने नागकन्या उलूपी से विवाह किया था। राजतरङ्गिणी के अनुसार नाग-कन्या चन्द्रलेखा का विवाह ब्राह्मण से हुआ था। ऐसे विवाह उन दिनों सब तरह से वैध समझे जाते थे और उनसे उत्पन्न सन्ततियाँ अनायास ही पिता की जाति की मान ली जाती थीं। नाग जाति में से अनेक ने वैदिक काल में ब्राह्मण और ऋषि का पद प्राप्त किया था। ऋग्वेद के दशम मंडल के ६४वें सूक्त के रचयिता कद्रू के पुत्र नागवंशीय अर्बुद थे। इसीलिए सायण ने कहा—कद्रवाः पुत्रस्य सर्पस्य अर्बुदस्यार्षम्। तैत्तिरीय संहिता के अनुसार ऋग्वेद के १०।१८६ सूक्त की रचयित्री ऋषि हैं 'सर्पराज्ञी'। इसी तरह १००।७६ सूक्त के ऋषि हैं नाग-जातीय इरावत के पुत्र जरत्कर्ण। सायण ने कहा है—इरावतःपुत्रस्य सर्पजातेर् जत्कर्णस्यार्षम्।

महाभारत की कथा है कि जब राजा जनमेजय सरमा के दिये हुए शाप से मुक्त होने के लिये, यज्ञ कराने के लिए योग्य पुरोहित की खोज कर रहे थे, तब श्रुतश्रवा ऋषि के पुत्र सोमश्रवा को उपयुक्त देखकर पुरोहित के रूप में वरण किया। ऋषि श्रुतश्रवा ने उस समय कहा था— यह मेरा पुत्र नागकन्या के गर्भ से उत्पन्न महातपस्वी स्वाध्यायसम्पन्न और मत्तपोवीर्यसम्भूत है' (आदि० पौष्य० १७ श्लोक)।

जरत्कारु महातपा उर्ध्वरेता तपस्वी थे (आदि० ४५ अध्याय)। इनके कोई सन्तान नहीं थी। इसीलिये उनके शंसितव्रत ऋषि पितामह-गण अधोलोक में गिर रहे थे। जरत्कारु ने यह देखकर इसका कारण पूछा, तो उन्होंने उत्तर दिया 'हम लोगों का एकमात्र वंशधर जरत्कारु विवाह न करके तपस्या में रत है। अब वंशहीन हैं, इसीलिए हमारी

अधोगति हो रही है।' यह सुनकर जरत्कारु ने उनसे अपना परिचय दिया और कहा 'हे पितामहगण, मैं गरीब हूँ, मेरे जैसे दरिद्र को कौन कन्या-दान करेगा ?' पितामहों ने कहा 'सन्तति हुए बिना हमारा उद्धार नहीं हो सकता। सारी दुनिया खोजने पर भी जब उन्हें कोई कन्या नहीं मिली, तो दुःख से भर कर एक दिन अरण्य में ऊँची आवाज से बोले—'मैं दरिद्र हूँ, इतने दिनों तक उग्र तपस्या में रत था। अब अपने पितृ-पितामहों के आदेश से विवाह करने की इच्छा रखता हूँ। क्या कोई मुझे अपनी कन्या देगा ?' उस समय नागराज वासुकि ने अपनी बहन को उनके हाथों में समर्पण किया (आदि० ४६ अध्याय)। यह विवाह वैध था और इससे उत्पन्न सन्तान ने जरत्कारु पितृ-पितामहों को अधोगति से उद्धार किया था।

इस विवाह से ही महातपस्वी आस्तीक का जन्म हुआ। इन्होंने ही जनमेजय के नागयज्ञ में जनमेजय से उसके बन्द करने की प्रार्थना की थी। अपना परिचय देते समय इन्होंने कहा था—'नागकुल हमारे मामा का कुल है, इसीलिए इस नागयज्ञ की विरति चाहता हूँ।' इस पर जनमेजय ने कहा 'हे द्विजवरोत्तम, इसे छोड़कर कुछ वर माँगिये' (आदि० ५६ अध्याय)। इस पर सभी वेदविद् ब्राह्मणों ने कहा कि, महाराज इन्होंने जो वर मांगा है, वही दिया जाय। ब्राह्मण को उसके प्राप्य से वंचित न करें। जब ये यज्ञ का अवसान ही चाहते हैं तो यज्ञ बन्द हो (आदि० ५६ अध्याय)

यज्ञ विरत हुआ। तपस्वी आस्तीक प्रसन्न मन से विदा हुए। चलते समय उनसे जनमेजय ने कहा—हे द्विजवरोत्तम, आपकी प्रार्थना के अनुसार यज्ञ तो विरत हुआ किन्तु यही आपके योग्य पर्याप्त सत्कार नहीं है। आप पुनः इस नगरी में पधारें। मेरी इच्छा अश्वमेध यज्ञ करने की है। उसमें आपको ही सदस्य होना होगा (आदि० ५८।१६। इस प्रकार देखा जाता है कि नाग माता के गर्भ से उत्पन्न होने के कारण इनके द्विजत्व और ऋषित्व में कुछ भी धब्बा नहीं लगा।

इन सब घटनाओं से प्रमाणित होता है कि उन दिनों नाग-जाति की कन्या से आर्य लोग विवाह कर सकते थे और इन विवाहों से उत्पन्न सन्तान पिता की जाति प्राप्त होती थी। ऐसा जान पड़ता है कि आरम्भ में यह सब भेद-बुद्धि आर्यों में नहीं थी। इस देश में बस जाने के बहुत बाद भेद-बुद्धि धीरे-धीरे बद्धमूल हुई है।

नाग यहाँ जो साँप नामक जन्तु का वाचक नहीं है, यह स्पष्ट ही ज्ञात हो जाता है। आर्यों के पूर्व जो सब आर्येतर जातियाँ अपनी-अपनी संस्कृति और सभ्यता लेकर यहाँ वास कर रही थीं। उनमें नागों और सुपर्णों का स्थान महत्त्वपूर्ण था। नाग का शाब्दिक अर्थ साँप है और सुपर्ण का पक्षी। खूब सम्भव है इन दोनों जातियों के लांछन (टोटेम) ये दोनों जंतु थे। इसीलिए उन दिनों आर्यों में इस प्रकार के शाप प्रचलित थे—चाण्डाल योनि को प्राप्त होओ, निषाद योनि को प्राप्त होओ, तिर्यग् योनि को प्राप्त होओ। तिर्यग् अर्थात् अनार्यत्व को प्राप्त होना। ऐतरेय आरण्यक में इस बात को अत्यन्त स्पष्ट भाषा में इस प्रकार कहा है—तानि यानि वयांसि वङ्गा मगधाश्चेरपादाः (२।१।१।५) अर्थात् ये जो वङ्ग मगध और चेर देश के वासी हैं यही तो पक्षी हैं।

सुपर्ण•वंशीयों में श्रेष्ठ महापुरुष गरुड़ थे। नागों और सुपर्णों में गहरी दुश्मनी बहुत पुरानी थी। शायद इससे आर्यों को सुविधा भी हुई थी। नाग लोग प्रधानतः शिव के उपासक थे और सुपर्ण लोग विष्णु के। गरुड़ विष्णु के वाहन हैं और नाग शिव के भूषण। ऐसा जान पड़ता है कि आर्यों के आगमन के कारण नाग लोग प्रधानतः मध्यभारत में और सुपर्ण लोग पूर्वी भारत की ओर हट गये थे। इसीलिए वङ्ग-मगध आदि के वाशिन्दों को पक्षी कहा गया है। किरातों ने हिमालय में शरण ली। ये किरात भी सुपर्णों के शत्रु थे, इसीलिए गरुड़ का एक नाम ही 'किराताशी' है। नागों के साथ सुपर्णों का विरोध तो बहुत प्रसिद्ध बात है। किरातों के विजय से भी महाभारत में देखते हैं

कि विनता अपने पुत्र गरुड़ से कह रही है कि सहस्र-सहस्र किरातों को भक्षण करके अमृत ले आओ (आदि० २८।२)।

इस तरह देखा जाता है कि नाग, किरात, निषाद आदि जातियाँ सुपर्णों की शत्रु थीं। सुपर्ण कन्या विनता को नाग जातीय कद्रू का बहुत दिनों तक दासीत्व करना पड़ा था। बाद में उसके पुत्र गरुड़ ने इस दासीत्व से उसे मुक्त किया था। इससे क्या यह सूचित नहीं होता कि एक समय सुपर्णगण नागों के निकट पराभूत और दासत्व प्राप्त थे, बाद में उनसे मुक्त हो सके थे ?

महाभारत में मन्दपाल नामक एक और महर्षि की कथा है। ये खाण्डव वन में वास करते थे। जरत्कारु की भाँति इन्होंने भी विवाह नहीं किया था और इनके पितृगण भी अधोगति को प्राप्त हो रहे थे। अन्त में इन्होंने भी तिर्यक्कन्या के साथ व्याह किया था (आदि० २३१।५-१४)। इस स्त्री से उनके चार ब्रह्मवादी पुत्र हुए। (१) ज्येष्ठ जरितारि कुलप्रतिष्ठापक हुए, (२) दूसरे सारिसृक् कुलवर्धन हुए, (३) तीसरे स्तम्बमित्र तपस्वी हुए और (४) चौथे द्रोण ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ हुए (आदि० २३२।६-१०) ब्रह्मर्षि होने के कारण अग्नि के खाण्डववन-दाह करते समय इन्हें दग्ध होने की सम्भावना नहीं थी (२३५।८। उन्हें वेदवित् समझ कर ही अग्नि ने उन्हें नहीं जलाया (२३६। १-३)। इस प्रकार स्पष्ट है कि तिर्यक्कन्या के गर्भ से उत्पन्न होने के कारण इनके वेदवित् ब्रह्मर्षि होने में कोई बाधा नहीं हुई। इसी तरह अप्सरा-कन्या शकुन्तला के गर्भ से दुष्यन्त का जो भरत नामक पुत्र हुआ वह पिता के समान ही वीर क्षत्रिय हुआ।

महाभारत से नाग और सुपर्ण जातियों की कथाएं उद्धृत की गई हैं। पर आज भी इस देश में बहुत सी जातियाँ हैं, जो अपने को नागवंशीय कहती हैं। जैसा कि पहले ही कहा गया है नाग लोग दक्षिण और मध्य देश की ओर हट गये थे। यही कारण है कि भारतवर्ष के मध्यवर्ती प्रदेश में ही नागपुर और छोटा नागपुर आदि

हैं। कहते हैं कि छोटा नागपुर के कूर जाति के पूर्व-पुरुष नाग ही थे। उत्कल की पाण जाति में नाग गोत्र है। विष्णुपुर के राजा लोग भी अपने को नागवंशी कहते हैं।

कैम्पबेल ने अपनी पुस्तक (Indian Ethnology, Vol. 1) में लिखा है कि नायर लोग नागपूजक हैं। खूब सम्भव है ये लोग भी प्राचीन नागवंशी हों (पृ० ३१३)। नाग जाति के बहुत से लोग बौद्ध हो गये थे (पृ० ३०६)। स्वर्गीय जायसवाल ने भारत के वाकाटक वंशीय राजाओं के एक विस्मृत इतिहास का अपूर्व परिचय दिया है। ये लोग नागवंशीय राजा थे। एक समय नागवंश के लोग सारे भारत में फैले हुए थे।

महाराष्ट्र के पाञ्चालों में सुपर्ण दैवज्ञ हैं। पांचालगण बंबई, मैसूर और मद्रास में ही अधिक हैं। इनमें सुनार, लुहार, कसेरे, प्रस्तरकार और बढ़ई हैं। ये अपने को ब्राह्मण और विश्वकर्मा की सन्तति बताते हैं। अपना यजन-याजन ये स्वयं करते हैं और ब्राह्मण का छुआ अन्न ग्रहण नहीं करते।

रघुकुल के मित्र जटायु शायद इन्हीं सुपर्णों के कोई जात-भाई होंगे।

महाभारत में नाड़ीजंघ नाम से प्रसिद्ध पितामह के प्रिय सुहृद् काश्यपात्मज महाप्राज्ञ पक्षियों में श्रेष्ठ वकराज की कथा है। ये भी शायद ऐसे ही पक्षी थे (आदि० १६६-१७२ अ०)। इनके कहने पर एक वेद-ज्ञान-हीन गौतम नामक ब्राह्मण धन के लिए एक दस्यु के पास गये। वह दस्यु ब्रह्मनिष्ठ सत्यसंघ और दानरत था। ब्राह्मण को उसने एक नया वस्त्र और एक विधवा स्त्री दान किया। गौतम उस स्त्री के साथ वहीं वास करने लगे (शांति० १६६ अ०) बाद में गौतम वहाँ से फिर नाड़ीजङ्घ के पास गये। फिर वकराज के द्वारा सत्कृत होकर उन्हीं के कहने से गौतम मेरुव्रजपुर में धार्मिक राक्षस राजा के पास गये और अन्यान्य ब्राह्मणों के समान ही धन-रत्नादि से सत्कृत हुए (शांति० १७१ अ०)।

पुराणों के युग में असवर्ण विवाह निन्दित होने लगा था। अनुलोम क्रम से असवर्ण विवाह का समर्थन स्कंद पुराण के ब्रह्मांड खंडोक्त धर्मारण्य खण्ड के षष्ठाध्याय में है। गरुड़पुराण (पूर्व खण्ड ६५ अ०), में भी ऐसे विवाह वैध समझे गये हैं; पर वहीं लिखा है कि यद्यपि द्विजातियों का शूद्रकन्या से विवाह कहा गया है, पर मैं इसे ठीक नहीं समझता क्योंकि पत्नी में अपना ही जन्म होता है।[1] लेकिन यदि कन्या शूद्र की न होकर वैश्य या क्षत्रिय की हो तो क्षत्रिय या ब्राह्मण के लिये ऐसे विवाह चल सकते हैं। (६५।६)। पर जमाने के साथ द्विजों में भी अनुलोम विवाह उठ गया।

वेद में और यज्ञ में शूद्र और स्त्री को अधिकार नहीं है। यद्यपि स्त्रियाँ द्विजपत्नी होंगी तथापि उन्हें वेदाधिकार नहीं है। फिर भी पूर्व-काल में वेद-मंत्रों की रचयित्री स्त्रियाँ कम नहीं थीं। प्रचीन काल में यजमान-पत्नी के करणीय बहुत से अनुष्ठान हुआ करते थे। फिर द्विजातियों को इस अधिकार से क्यों वंचित किया जाय ? सम्भव यह जान पड़ता है कि जब आर्य लोग इस देश में आये होंगे, तो स्वभा-वतः ही उनके साथ स्त्रियों की संख्या कम रही होगी। इसीलिए उन्हें आर्येतर जाति की कन्या ग्रहण करने में कोई आपत्ति नहीं रही होगी। अन्त में इन आर्येतर जाति की स्त्रियों की संख्या ही अधिक हो उठी होगी और उनकी प्रवृत्ति भी पतिकुल के यज्ञ-यागादि की अपेक्षा पितृ-कुल की पूजापद्धति की ओर ही अधिक रही होगी। इसीलिए वे स्वयं भी शायद यज्ञादि कृत्यों में विशेष उत्साहशीला नहीं रही होंगी। इसीलिए अंत में स्त्री और शूद्र को एक श्रेणी में डाल दिया गया होगा। इसी पुस्तक में अन्यत्र दिखाया गया है कि इन शूद्र पत्नियों ने ही आर्यों के समाज में शिव विष्णु आदि की पूजा का प्रवेश कराया था।

---

[1] यदुच्यते द्विजातीनां शूद्रदारोपसंग्रहः।
न तन्मय मतं यस्मात् तत्रायं जायते स्वयम्॥ (६५।५)

आजकल यद्यपि ब्राह्मण का विवाह अब्राह्मण कन्या के साथ नहीं हो सकता तथापि नारी का अधिकार जहाँ का तहाँ ही है। आज भी श्रौत मंत्र के लिए ब्राह्मण पत्नियाँ ही अधिकारिणी हैं। कहीं-कहीं तो निष्ठा यहाँ तक बढ़ी है कि बहुत से ब्राह्मण पंडित अपनी पत्नियों के हाथ का अन्न भी ग्रहण नहीं करते। शूद्र के हाथ से कैसे अन्न ग्रहण करें? दक्षिण के नम्बूद्री ब्राह्मण लोग नायर स्त्रियों के साथ संसर्ग करते हैं सही, पर उनके हाथ का छुआ अन्न जल नहीं ग्रहण करते, दिन में उनको स्पर्श भी नहीं करते, और प्रातःकाल स्नान करके शुद्ध हो लेते हैं। इन स्त्रियों से उत्पन्न अपनी सन्तान को भी वे स्पर्श नहीं करते। इसलिए वे अपने को अन्यान्य सब ब्राह्मणों से श्रेष्ठ भी समझते हैं। अन्यान्य ब्राह्मणों को वे हीन और स्पर्श के अयोग्य समझते हैं।

काशी में मैंने एक नम्बूद्री ब्राह्मण से पूछा था 'आप लोग शूद्र कन्या के साथ गार्हस्थ बंधन में क्यों बँधते हैं?' उन्होंने जवाब दिया—सभी स्त्रियाँ तो शूद्र ही हैं। हम लोग तो फिर भी उनके साथ केवल सम्बन्ध ही करते हैं, उनके हाथ का अन्नादि नहीं ग्रहण करते। प्रभात काल में स्नान करके शुद्ध हो जाते हैं। अन्यान्य ब्राह्मण लोग तो शूद्रा के साथ सम्बन्ध भी करते हैं और उनके हाथ का अन्न भी ग्रहण करते हैं। यह अच्छा है या हमारा शौचाचार अच्छा है? इसपर मुझे निरुत्तर होना पड़ा।

इन नम्बूद्री ब्राह्मणों में केवल सबसे बड़े भाई को ब्राह्मणकन्या से विवाह करने का अधिकार है और बाकी पुत्रों को नायर कन्याओं से सम्बन्ध करने को बाध्य होना पड़ता है। फल यह होता है कि बहुत-सी ब्राह्मण कन्याएँ अविवाहित रह जाती हैं और बहुत से नायर युवक भी अविवाहित रह जाते हैं। तथापि जब जस्टिस् शंकरन् नायार ने विवाह संस्कार कानून पास कराना चाहा था, तो उस देश के प्राचीन पंथियों ने बड़ा जबर्दस्त विरोध किया था। जस्टिस शंकरन् की इच्छा

यही थी कि नम्बूद्री पुरुष नम्बूद्री कन्याओं के साथ ही विवाह करें और नायर पुरुष नायर स्त्रियों के साथ। इस प्रकार बहुत से स्त्रियों को और पुरुषों को जो जबर्दस्ती कौमार व्रत पालन करना होता है, वह बन्द हो और इस कौमार व्रत के कारण सामाजिक अस्वास्थ्य की कमी हो। परन्तु प्राचीन पंथियों ने यह कह कर घोर विरोध किया कि इस प्रकार के नवीन संस्कारों से देश और धर्म का अधःपतन होगा।

कुछ लोग पूछते हैं कि आर्य लोग क्या आर्येतर जातियों में से केवल नागों और सुपर्णों की कन्याएँ ही ग्रहण करते थे? राक्षसों की कन्याएँ नहीं? वस्तुतः आर्येतर जातियों में ये दो जातियाँ अधिक सभ्य और संस्कृत थीं। नागकन्याएँ तो सौन्दर्य और चारुता के लिए प्रख्यात थीं। राक्षसों में जो वंश सभ्य और सुसंस्कृत होते थे उनसे आर्यों का विवाह सम्बन्ध जरूर होता था। रावण की कहानी तो प्रसिद्ध ही है। रामायण उत्तराकाण्ड में लिखा है कि पुलस्त्य नाम के एक ब्रह्मर्षि थे (२।४), उनके पुत्र मुनिश्रेष्ठ विश्रवा पिता की भाँति ही तपस्वी हुए (३।१)। वे सत्यवान्, शीलवान्, स्वाध्याय-निरत, शुचि, भोग में अनासक्त और नित्यधर्म परायण थे (३।२)। इन्हीं के वंश में राक्षसी माता के गर्भ से रावण का जन्म हुआ था। अतएव रावण को मारने से राम को ब्रह्महत्या का पाप लगा था। रावण पापपरायण होने पर भी विद्या, बुद्धि और तपश्चर्या में अग्रगण्य था। पुत्र रावण के स्नेह से बाध्य होकर महर्षि पुलस्त्य को महिष्मतीपुर में जाना पड़ा। वहीं कार्तवीर्यार्जुन के यहाँ रावण को बन्दी होना पड़ा था (३।२-४)। मेघनाथ भी याग-यज्ञ में प्रवीण था (२५।४-५)। महाभारत के मेरुव्रज नगर के धर्मशील राक्षसराज की ब्राह्मण-भक्ति का हाल तो पहले ही कहा गया है।

स्कंद पुराण की कथा है कि स्वामी के आदेश से राक्षसी सुशीला पुत्र प्राप्ति के लिए शुचि नामक मुनि के पास गई थीं। इसी सम्बन्ध से कपालाभरण नामक पुत्र हुआ था। यद्यपि सुशीला मुनि की अपनी

पत्नी नहीं थी; तथापि ब्राह्मण से उत्पन्न होने के कारण उनका पुत्र कपालाभरण ब्राह्मण ही हुआ। इसे हत्या करने के कारण इन्द्र को ब्रह्महत्या लगी थी (स्क० पु० सेतु महात्म्य ११।६०)।

यह समझना भी ठीक नहीं कि सभी राक्षस असभ्य और नर-मांसाशी थे। उत्तम नामक राजा से बलाक राक्षस ने कहा था कि हे राजन्, हम लोग मनुष्य का मांस नहीं खाते। वे अन्य श्रेणी के राक्षस हैं। जो ऐसा करते हैं—न वयं मानुषाहारा अन्ये ते नृप राक्षसाः (मार्कण्डेय पुराण ७०।१६)। ये राक्षस रूपवान् भी थे, इसी-लिए बलाक ने कहा था कि हमारी स्त्रियाँ रूप में अप्सराओं के समान हैं। उनके होते हुए हम लोग मानुषियों के प्रति लालसा क्यों करेंगे?[1] साधारणतः चार श्रेणी के राक्षस थे (वायु० ७०।५५)। इनमें वेदा-ध्यायी और तपोनिष्ठ राक्षस भी थे (वही०५३)। मत्स्यपुराण से दानवों की कठोर तपस्या का परिचय मिलता है (१२६।७-११) जिससे ब्रह्मा भी प्रसन्न हुए थे।

राजा दम सूर्यवंश के प्रख्यात धार्मिक राजा थे। उन्होंने अपने पितृश्राद्ध के अवसर पर राक्षसकुलोद्भव ब्राह्मणों को भोजन कराया था[2]। राजा दम की इस कीर्ति का वर्णन करके पुराणकार कहते हैं सूर्यवंशोद्भूत राजा ऐसे थे[3]।

जातिभेद में प्रधानतः दो बातें हैं, खान-पान और व्याह शादी। इन्हीं को संक्षेप में 'रोटी-बेटी' का व्यवहार कहते हैं। एक तीसरी बात मृतक-संस्कार और श्राद्ध है, जो इन दोनों के बाद ही महत्त्वपूर्ण है।

---

[1] सन्ति नः प्रमदा भूप रूपेणाप्सरसां समाः।
राक्षस्यस्तासु तिष्ठत्सु मानुषीषु रतिः कथम्॥
(वही ७०।१६)

[2] ब्राह्मणान् भोजयामास रक्षःकुलसमुद्भवान्।

[3] एवंविधा हि राजानो बभूवुः सूर्यवंशजाः। (१३७।३६)

अनेक पण्डितों का मत है कि वैदिक युग में और यहाँ तक कि सूत्र-युग में भी सभी जाति के लोगों के हाथ का अन्न ग्रहण किया जाता था (श्याम शास्त्री, पृ० ६) ।

वेद में शुरू-शुरू के अंशों में कहीं भी इस खान-पान की समस्या पर विचार नहीं मिलता । किन्तु उपनिषदों के समय में एक प्रकार का खान-पान का विचार चल पड़ा होगा, ऐसा जान पड़ता है । छान्दोग्य उपनिषद् में उषस्ती चाक्कायण की कथा है । वे एक बार अवस्था के विपर्यय वश कुरुदेश त्याग करके हस्तिपालकों के 'इन्य' ग्राम में आये । वे लोग 'कुल्माष' उबाल कर खा रहे थे । क्षुधित चाक्कायण ने वही माँगकर खा लिया । जब वे लोग उन्हें पानी पिलाने लगे तो चाक्कायण ने कहा कि तुम्हारे हाथ का माष तो खा चुका हूँ किन्तु पानी नहीं पीने से भी हमारा काम चल जायगा (छान्दोग्य १।१०।१११) । इससे उन दिनों खान-पान के विचार का पता चलता है । किन्तु पूर्ववर्ती वैदिक युग में यज्ञ के व्रत दीक्षा के समय जो खान-पान सम्बन्धी संयम का निर्देश है वह अन्य कारण से । यज्ञ के समय पवित्र होकर रहना ही उसका उद्देश्य है, जाति-विचार नहीं ।

भगवान् मनु ने स्पष्ट ही कहा है कि काठ, जल, मूल, फल, अन्न स्वयं आया हुआ, मधु और अभय दक्षिणा सब जगह से ग्रहण करना चाहिये[1] । आगे चलकर पुनर्वार सब जगह से जल ग्रहण का विधान करके मनु भगवान् ने इस बात को और स्पष्ट कर दिया है[2] ।

रामायण और महाभारत में ऐसी बहुत कथाएँ हैं जहाँ मुनिगण

---

[1] एधोदकं मूलफलमन्नमभ्युद्यतं च यत् ।
सर्वतः प्रतिगृह्णीयान्मध्वथाभयदक्षिणाम् । (४।२४७)

[2] शय्यां गृहान् कुशान् गन्धान् अन्नं पुष्पं मणीन् दधि ।
धानामत्स्यान् पयो मांसं शाकं चैव न निर्णुदेत् ॥ (४।२५०)

क्षत्रिय और वैश्य गृहस्थों के घर सब प्रकार का अन्न ग्रहण करते बताये गये हैं। महाभारत की बहुत प्रसिद्ध कथा है कि वन में द्रौपदी बहुत-से तपस्वियों को प्रतिदिन भोजन कराया करती थीं। एक बार महाकोपन दुर्वासा ऋषि ने असमय में शिष्यों सहित उपस्थित होकर अन्न माँगा। ऐसे संकट के समय द्रौपदी के सहायक श्रीकृष्ण हुए और किसी प्रकार उनकी लज्जा बची (वन० २६ अध्याय)। इसी प्रकार आदि पर्व में राजा पौष्य का ब्राह्मण उतङ्क को अन्न दान करना प्रसिद्ध है (आदि० ३।११५)

सूत्रकाल में भी देखा जाता है कि ब्रह्मचारी ब्राह्मण क्षत्रिय, और वैश्य सबके घर अन्न ग्रहण कर सकता था (आपस्तंब ६।२८-०)। गौतम धर्मसूत्र (२।४२) के अनुसार पतित और अभिशप्त को छोड़कर बाकी सबके घर ब्रह्मचारी अन्न ग्रहण कर सकता था। गौतम संहिता (२ य अध्याय) की भी यही व्यवस्था है। उशनः संहिता में भी सार्ववर्णिक भैक्षाचरण का विधान है (१।५४)। मनु ने भी कहा है कि जरूरत पड़ने पर ब्रह्मचारी सर्वत्र भिक्षा माँग सकता है (२।१८५)। पद्मपुराण (स्वर्ग खण्ड २५।६१) से भी यही बात समर्थित होती है। आपस्तम्ब कहते हैं कि अनेक लोगों का मत है कि ब्राह्मण के लिए शूद्र को छोड़कर स्वधर्म में वर्तमान जिस किसी का अन्न विहित है (१८।१३)।

महाभारत में ठीक ऐसी ही बात मिलती है (अनु० १३५।२-३)। सभापर्व में राजा हरिश्चन्द्र के राजसूय यज्ञ में अधीनस्थ राजा लोग ब्राह्मणों को अन्न परोस रहे थे (१२।१४) और वैश्यों की भाँति राजा लोग भी अन्न परोसने में लग गए थे (४३।३५)। इसी तरह द्रौपदी के स्वयम्बर के समय भी दास-दासी और पाचक भृत्य सबको अन्न परोस रहे थे (आदि० १६४।१३)।

गौतम संहिता में भी देखा जाता है कि पशुपालक, क्षेत्रकर्षक कुलक्रमागत नापित और परिचारक यदि शूद्र भी हों तो इनका

अन्न ग्रहणीय है—पशुपालक क्षेत्रकर्षक-कुलसङ्गतकार-पितृ-परिचारिका भोज्यान्नाः (१७ अ०)।

इस प्रकार देखा जाता है कि कुछ शूद्रों के अन्न तो ग्रहणीय हैं और कुछ के नहीं, इसका कारण क्या है ?

जिन शूद्रों ने आर्यों की रीति-नीति और धर्म ग्रहण नहीं किया था, जो साफ-सुथरे नहीं रहते थे, उनका अन्न ग्रहणीय नहीं समझा गया था। जो साफ-सुथरे और आचारपरायण थे, उनका अन्न ग्रहण किया जाता था। इसीलिए लघु विष्णु स्मृति में कहा है कि शूद्र दो प्रकार के हैं। जिन्होंने धन और प्राण समेत ब्राह्मणों का शरण ग्रहण किया है, वे भोज्यान्न हैं; अर्थात् उनका अन्न ग्रहणीय है और जो ऐसा नहीं कर सके वे अभोज्यान्न हैं (५।११)। इसीलिए शूद्र दो प्रकार के हैं—श्राद्धी और अश्राद्धी। श्राद्धी अर्थात् विश्वास-भाजन। पहले भोज्यान्न हैं, दूसरे नहीं[1]। गौतम संहिता की उपर्युक्त व्यवस्था इसीलिए है। गौतम के टीकाकार मस्करि ने इस बात के समर्थन में उशना का यह मत उद्धृत किया है—स्वगोपालो भोज्यान्नः स्वक्षेत्रकर्षकश्च। मनु के श्लोक को भी टीकाकार ने उद्धृत किया है[2]।

मनुस्मृति में यह श्लोक जरा सा पाठभेद के साथ पाया जाता है। वहाँ 'क्षेत्रकः' की जगह 'आर्द्धिकः' पाठ है[3]। अर्थ वही है। अर्थात्

---

[1]शूद्रोऽपि द्विविधो ज्ञेयः श्राद्धी चैवैतरथा।
श्राद्धी भोज्यस्तयोरुक्तोह्यभोज्योहीतरः स्मृतः (५।१०)

[2]क्षत्रकः कुलमित्रश्च गोपालो दासनापितौ।
एते शूद्रेषु भोज्यान्ना यश्चात्मानं निवेदयेत् ॥

[3]बृहद्यमस्मृति (३।१०), यमसंहिता (२०), पराशरसंहिता (११। २०) में यही श्लोक थोड़ा सा परिवर्तन रूप में यों मिलता है—
दासनापितगोपालकुलमित्रार्धसीरिणः।
एतेशूद्रेषु भोज्यान्ना यश्चात्मानं निवेदयेत् ॥

जिन्होंने स्वयं को निवेदन करके सेवाव्रत ग्रहण किया है ऐसे खेत जोतनेवाले, कुलबन्धु, गोपाल और दास तथा नाई शूद्र होने पर भी भोज्यान्न हैं (मनु० ४।२५३)। यह श्लोक ही कूर्मपुराण (उपरिभाग १७।१७) में भी है और गरुड़पुराण में (पूर्व खंड ६६।६६) भी है। व्यास ने भी इसी बात का समर्थन किया है (३।५१-५२)। कर्म-पुराण में विशेष इतना है कि इन शूद्रों का अन्न ग्रहणीय तो है, पर थोड़ा मूल्य दे लेना चाहिये[1]।

पाणिनि में 'शूद्राणामनिरवसितानां (२।४।१०) इस सूत्र में शूद्रों के दो भाग किये हैं—बहिष्कृत और अबहिष्कृत। इस पर आचार्य कैयट ने लिखा है कि शूद्रों को पंचयज्ञ में अधिकार है (Indian Culture, 1938. Turner P. 371)

स्कंदपुराण में लिखा है कि यदि शूद्र भगवद्भक्त हो, तो उसे ब्रह्मज्ञान का उपदेश दिया जा सकता है पर अशुचि ब्राह्मण को नहीं (नागरखण्ड २६२।५०)। स्वयं वेद भी सत्य को सबके निकट प्रकट करने का उपदेश देता है—यथेमां वाणीं कल्याणीमावदानि जनेभ्यो ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय च स्वाय चारणाय च (वा० सं० २६।२)।

सुश्रुत संहिता में सूत्रस्थान में कहा गया है कि किसी किसी का मत है कि कुल-गुण-सम्पन्न शूद्र को भी बिना मंत्र और बिना दीक्षा के ही अध्ययन करना चाहिए (२-५)। सुश्रुत के टीकाकार डल्हण ने भी इस मत का समर्थन किया है।

मीमांसा दर्शन शूद्रस्थानाधिकार निरूपण के समय कहा गया है—

याज्ञवल्क्यसंहिता (११६८), गरुड़पुराण (पूर्वखंड, ९६।६६) और निर्णयसिंधु में भी यही भाव इस परिवर्तित रूप में है—

शूद्रेषुदासगोपालकुलमित्रर्द्धिसीरिणः।
भोज्यान्नानापिताश्चैवयश्चात्मनंनिवेदयेत्॥

[1] एतेशूद्रेषु भोज्यान्ना दत्वा स्वल्पं पणं बुधैः। (उपरि भाग० १७।१८)

चातुर्वर्ण्य विशेषात् (६।१।२५)। इस पर भाष्यकार शबर स्वामी प्रश्न करते हैं—इस अग्निहोत्रादि कर्म में क्या चारों वर्णों को अधिकार है, या शूद्र को छोड़कर बाकी तीन वर्णों का ही है? यहाँ हम क्या श्रुति पाते हैं। वेद में तो चारों वर्ण के लिए 'यज्ञ करें' 'आहुति दें' आदि विधान है, क्योंकि वेद में किसी वर्ण विशेष के अधिकार की तो कोई बात नहीं है? इसीलिए शूद्र को भी इस अधिकार से निवृत्त नहीं किया गया[1]। इसके बाद भाष्यकार ने श्रुति-वाक्य के साथ आत्रेय का एक वचन उद्धृत कर इस मत पर आपत्ति उठाई है और फिर 'वादरि' का मत उद्धृत करके उसका समाधान किया है। वादरि का मत है कि निमित्तार्थ ही कहीं कहीं श्रुति में विशेष्याधिकार की बात है। इसलिए उसमें सब का अधिकार सिद्ध हुआ[2]। किन्तु बाद के सूत्रों और उन पर किये गये विचारों से जान पड़ता है कि यह मत भी क्रमशः संकीर्ण हो गया है (६।१।२८।३८)।

कोई कोई ऐतरेय ब्राह्मण के (८।१।४) मंत्र[3] से शूद्रों के यज्ञाधि-

---

[1]अग्निहोत्रादिनि कर्माणि उदाहरणं तेषु सन्देहः—किं चतुर्णां वर्णानां तानि भवेयुः। उत अपशूद्राणां त्रयाणां वर्णानामिति। किंतावत्प्राप्तं? चातुर्वर्ण्यमधिकृत्य 'यजेत' जुहुयात्' इत्येवमादि शब्द-मुच्चरति वेदः। कुतः, अविशेषात्। नहि कश्चित् विशेष उपादीयते। तस्मात् शूद्रो न निवर्तेते।

[2]निमित्तार्थेन वादरिः तस्मात्सर्वाधिकारं स्यात्।

(६।१।२७)

[3]ब्रह्म वै स्तोमानां त्रिवृत् क्षत्रं पंचदशो ब्रह्म खलुवै क्षत्रात् पूर्वं ब्रह्मपुरस्तान्म उग्रं राष्ट्रमव्यथामसदिति विशः सप्तदशः शौद्रोवर्ण एकविंशं विशं चैवास्मै तच्छौद्रं च वर्णमनुवर्त्मानौ कुर्वंत्यथो तेजो व स्तोमानां त्रिवृत् वीर्यं पञ्चदश प्रजातिः सप्तदशः प्रतिष्ठा एकविंशस्तदेनं तेजसा वीर्येण प्रजात्या प्रतिष्ठायान्ततः समवर्छमति।

कार का अनुमान करते हैं। इस मंत्र में शूद्र के साथ प्रतिष्ठा के योग का उल्लेख है। इसी प्रकार आपस्तम्ब श्रौतसूत्र (१।१६।६) में कहा गया है कि ब्राह्मणादि चारों वर्ण क्रमशः 'एहि', 'आगाहि', 'आद्रव', 'आधाव' कह कर हविष्कृत् के आवाहन करें। या फिर, जैसा कि इसके आगे के सूत्र से स्पष्ट है, सभी 'एहि' कहकर ही आवाहन कर सकते हैं। इस तरह शूद्र को हविष्कृत के आवाहन की व्यवस्था का अर्थ है शूद्र को भी यज्ञ का अधिकारी मानना। टीकाकार रुद्रदत्त इन सूत्रों की टीका करते समय कहते हैं कि यहाँ 'शूद्र' का अर्थ है निषाद-स्थपति, जिनके यजन का उपदेश उक्त श्रौतसूत्र में ही है (१२।६।१४)। इन निषादस्थपतियों के विषय में वैदिक इन्डेक्स में अनेक प्रमाण देकर सिद्ध किया गया है कि इन्होंने आर्यों का वश नहीं स्वीकार किया था और अपने आप में गणनेता थे (कात्यायन श्रौतसूत्र १।१।१२)।

आपस्तंब परिभाषासूत्र (१।२) की टीका में कपर्दी स्वामी ने 'निषादस्थपतिं याजयेत्' यह वचन उद्धृत करके इनके याजन कराने को विहित माना है (G. OI. P- II)। इसी सूत्र की व्याख्या से जाना जाता है कि गवेधुक् याग में निषादस्थपति प्रयोजनीय वैदिक मंत्र याद कर लिया करते थे। स्त्रियों (S.B E. XXX P. 317) और रथकार के सम्बन्ध में भी यही व्यवस्था है (वही० पृ० ३१६)।

आज दिन भी विवाह के समय नाई 'गौर्वचन' उच्चारण करता है। कई जगह इसका आशय ठीक न समझ कर नाई नाना भाँति की तुक-बंदियाँ बोलते हैं। 'गौर्वचन' असल में 'गौः गौः गौः' इस प्रकार तीन बार गौ शब्द के उच्चारण करने को कहते हैं। (गोभिल ४। १०। १८)। आशय है कि यज्ञ में बलिदान के लिये (गौ-साँढ़) आ गया है। उन दिनों वैवाहिक यज्ञ में भी गौ-बलि होती थी। अहिंसा धर्म की प्रतिष्ठा के बाद से वह प्रथा अब उठ गई है।

नापित के इस प्रकार कहने पर कोई पूज्य व्यक्ति कहते थे कि गौ

को वरुण-पाश से मुक्त करो··· वह घास खाय और पानी पिये (गोभिलगृह्यसूत्र ४। १०। १९) और इसके बाद ऋग्वेद का एक मंत्र (८। १०१। १५) पढ़ा जाता था। इससे सिद्ध होता है कि नापित को यज्ञ में कुछ काम करने और अन्ततः वेद मंत्र सुनने का अधिकार था।

छान्दोग्य उपनिषद् (४। २) में जानश्रुति पौत्रायण नामक शूद्र की कथा है। यह रैक्व नामक ब्रह्मवादी के पास पहले छ सौ गायें, निष्क, अश्वतरी, रथ, उपहार लेकर गये, पर रैक्व ने उन्हें शूद्र कह कर प्रत्याख्यान किया। बाद में जानश्रुति अपनी कन्या देने लगे, पर फिर भी प्रत्याख्यात हुए। किन्तु बाद में शिष्य रूप से सेवा करने के बाद रैक्व प्रसन्न हुए और उन्होंने जानश्रुति को ब्रह्मविद्या दी। इस आख्यान से दो बातें प्रकट होती हैं। एक तो यह कि कुछ लोग जो यह मानते हैं कि शूद्र का उपनयन होता था, वह निराधार नहीं है; क्योंकि यहाँ शूद्र का गुरुगृह में वास स्पष्ट ही प्रमाणित होता है। दूसरी बात यह है कि ब्राह्मण शूद्र कन्या से विवाह कर सकते थे। यद्यपि इस कथा में यह नहीं बताया गया है कि रैक्व ने बाद में उस कन्या को ग्रहण किया था, या नहीं (शायद किया हो, क्योंकि ऐसे मामलों में पहले नाहीं करना और बाद में स्वीकार करना कोई असाधारण बात नहीं है) पर इतना तो स्पष्ट ही है कि अगर वह कन्या ग्रहणीय न होती, तो जानश्रुति उसे उपहार रूप में देने को जाते ही नहीं। उन दिनों शूद्रों के प्रति सामाजिक व्यवहार बहुत उत्तम नहीं था, यह देखते हुए जानश्रुति का दो बार प्रत्याख्यात होना बहुत अधिक अशोभन नहीं लगता।

अब प्रश्न है कि क्या कारण है कि आर्य लोगों ने निषाद-स्थपतियों को, जो उनका वश नहीं मान रहे थे, यज्ञ में कुछ भाग लेने का अधिकार दिया और अपने एकान्त अनुगत शूद्रों को वैसा अधिकार नहीं दिया? यह चिरंतनी नीति है कि जो सम्पूर्ण रूप से अपने को समर्पण कर देता है, उसका मान कम हो जाता है। अब भी

गुरुओं और मंडलीपतियों में देखा जाता है कि वे जब ऐसे लोगों को चेला या अनुगत बनाना चाहते हैं, जो लोग जरा बुद्धिमान और आत्मसम्मान-प्रिय होते हैं, तो ये चेले पूर्ण तौर पर अपने को पकड़ में नहीं आने देते। जो लोग बाहर रहकर शेखी जमाया करते हैं उनकी पद-मर्यादा भी बनी रहती है। जो लोग भोले आदर्शवादी होते हैं और संपूर्ण रूप से अपने को सौंप देते हैं, वे दो दिन बाद ही शुभग्रहों की भाँति बिसार दिये जाते हैं। रहीम ने ठीक ही कहा है:—

भले भले कहि छाड़ियत, खोटे ग्रह जपदान !

लंपट पुरुष भी जब स्त्रियों को भुलाकर अपने आधीन कर लेते हैं, तो फिर उनके साथ दुर्व्यवहार करने लगते हैं। यह मनोविज्ञान का सहज सत्य है। जिसे पा लिया है उसकी उपेक्षा और जिसे अभी नहीं पाया है, उसके लिए आग्रह यही स्वभावतः ठीक है। यह भी देखा जाता है कि जो प्रबल पराक्रान्त राजा अपनी प्रजाओं को उत्पीड़ित करते हैं, वही बाहरी दस्युओं और गुण्डों से बहुत भद्रता-पूर्ण व्यवहार करते हैं !

यह राजनीकि बुद्धि आर्यों को भी थी। यही कारण है कि निषाद-स्थपति लोगों के प्रति उन्होंने जितनी ममता दिखाई है, उतनी अपने एकान्त अनुगत शूद्रों के प्रति नहीं दिखा सके। अथर्ववेद में (१५। १। १) व्रतहीन व्रात्यों की जो इतनी स्वत स्तुति है, उसके मूल में भी शायद यही कारण है। कुछ लोगों का मत है कि व्रतहीन आर्य ही व्रात्य थे और कुछ लोग इन्हें व्रतहीन अनार्य मानते हैं। पर सर्व-सम्मत बात यह है कि वे आर्य आचार की आवश्यकता नहीं मानते थे। क्या इसीलिए वेद में इनकी इतनी स्तुति है ? शूद्रों में भी जो लोग जानश्रुति की भाँति राजा या जन-नेता थे वे फिर भी बहुत कुछ भद्रव्यवहार की प्रत्याशा कर सकते थे।

महाभारत में आर्य लोगों की दस्युओं के साथ इस विषय में कैसी नीति थी, उसका अच्छा उदाहरण मिलता है। दस्युओं ने भी आर्यों

की वश्यता नहीं मानी थी। फिर भी उनके प्रति उनकी ममता का अभाव नहीं था। युधिष्ठिर को भीष्म उपदेश दे रहे हैं कि दस्यु लोग सहज ही बहुत सैन्य संग्रह करके काम-काज के योग्य हो सकते हैं। (शान्ति० १३३।११), अतः उनके साथ जन चित्त-प्रसादिनी मर्यादा स्थापन करनी चाहिये[1]। उनके साथ विरोध उपस्थित हो, तो नृशंस व्यवहार नहीं करना चाहिये[2]। जो लोग दस्युओं का धन-जन विनाश नहीं करते, वे ही सुखपूर्वक राज्य भोगते हैं और जो विनाश करते हैं उनके लिए निरुपद्रव होकर राज्य करना असंभव है। (१३३।२०)।

इन सब बातों की पुष्टि के लिए आगे चलकर भीष्म ने (शान्ति० १३५ अध्याय) कायव्य नामक दस्यु का उपाख्यान कहा। कायव्य क्षत्रिय पिता और निषादी माता से उत्पन्न थे। नीति-संगत भाव से सबका उपकार करके और धर्म का उल्लंघन न करके उन्होंने शक्ति पायी। वृद्ध, अन्ध, बधिर, तापस और ब्राह्मणों के प्रति वे अति दयालु थे। (६-८) उन्हें इस प्रकार मुहूर्त्त-देश-कालज्ञ प्राज्ञ, शूर और दृढ़व्रत देखकर बहुत से दस्युओं ने आकर उन्हें अपना ग्रामणी या नेता बनाया (११)। कायव्य ने उनसे कहा कि तुम लोग स्त्री, भीत, तपस्वी और शिशुओं को न मारना। जो युद्ध न करता हो उसपर हाथ न उठाना, स्त्री को बलपूर्वक न पकड़ना (१४), सत्य की रक्षा करना, मंगल-कार्य में बाधा न पहुँचाना (१५) और उनके ही विरुद्ध आक्रमण करना जो हमारा प्राप्त हमें न देना चाहें (१६), दण्ड दुष्टों को दमन करने के लिए है शिष्टों को पीड़ा देने को नहीं (२०)।

इससे जान पड़ता है कि दस्युओं और निषादों में अनेक योग्य पुरुष थे। उन्हें यज्ञादि में योग देने देना कुछ भी अन्याय नहीं है।

---

[1] स्थापयेदेव मर्यादां जनचित्तप्रसादिनी। (वही १३)

[2] न बलस्थोऽस्मीति नृशंसानि समाचरेत् (१६)।

अन्याय यह है कि जिन शूद्रों ने आर्यों की वश्यता स्वीकार की थी, उनमें जो योग्य थे उन्हें उससे वञ्चित करना। यद्यपि यह स्वाभाविक है कि मनुष्य अपने अनुगत और शरणापन्नों की उपेक्षा करता है। कभी-कभी उनके प्रति निर्मम भी होता है, पर स्वाभाविक होने से कोई बात धर्मसंगत नहीं हो जाती।

यहाँ फिर से दूसरे अध्याय में उद्धृत भृत के उस वचन को स्मरण कर लिया जा सकता है कि सृष्टि के आरम्भ में सभी ब्राह्मण थे (शान्ति० १८८।१०)। नानाविध कर्मों द्वारा पृथक् किये हुए ब्राह्मण ही अन्यान्य वर्णों में गये हैं। इसीलिए उनका यज्ञ क्रिया रूप धर्म नित्य है, वह प्रतिषिद्ध नहीं हो सकता।[1] यद्यपि ये चार वर्णों में विभक्त हुए, पर उन सबका वेद में अधिकार था। यही विधाता का विधान था। लोभवश उसे खोकर बहुत से लोग अज्ञानता को प्राप्त हुए हैं[2]। यहाँ टीकाकार आचार्य नीलकण्ठ जो कुछ कहते हैं[3] उस हिसाब से तो आज भी बहुत से तथाकथित आर्य लोग लोभ और तामसिकता के दोष से वेदाध्ययन का अधिकार खो चुके हैं और शूद्रत्व को प्राप्त हो गये हैं।

---

[1] इत्येतैः कर्मभिर्व्यस्ता द्विजा वर्णान्तरं गताः।
धर्मो यज्ञक्रिया तेषां नित्यं न प्रतिषिद्ध्यते ॥ (शान्ति० १८८।१४)

[2] इत्येते चतुरो वर्णाः येषां ब्राह्मी सरस्वती।
विहिता ब्रह्मणा पूर्वं लोभात्त्वज्ञानतं गताः ॥
(वही १८८।१५)

[3] "चतुरश्चत्वारो ब्राह्मी वेदमयी चतुर्णामपि वर्णानां ब्राह्मणपूर्वं विहिता।
लोभदोषेणत्वज्ञानतां तमोभावं गताशूद्रा अनधिकारिणो वेदे जाताः इत्यर्थः ॥

समाज में जीवन और गति

प्राचीन काल में, फिर भी समाज में गति और प्राण था। अध्यात्म योग के विषय में बृहदारण्यक में कहा गया है कि यहाँ आकर चाण्डाल चाण्डाल नहीं होता और पौल्कस पौल्कस नहीं रहता—"चाण्डालोऽ चाण्डालः पौल्कसोऽपौल्कसो भवति" (४।३।२२)। इससे जान पड़ता है, तब भी समाज में एक गति है, एक स्पन्दन है। तब भी समाज की सीमाएं विधि-निषेध की दुर्लंघ्य दीवारों से घेर नहीं दी गई हैं। जिस दिन से हिन्दू समाज में विधि-निषेध की दीवारें कठोर बना दी गईं उसी दिन से उसमें एक प्रकार की गतिहीन जड़ता आ गई है।

ऊँची जाति का नीची जाति हो जाना कठिन नहीं है, पर हमने अन्यत्र देखा है कि बहुतेरी नीची जातियों से उत्पन्न व्यक्ति ऊँची जाति के हो चुके हैं। साधारणतः समाज के जीवन और गति के अनुसार ऊँच-नीच होना नियंत्रित होता है। कभी-कभी राजाओं ने कई जातियों को ऊपर या नीचे उठा दिया है, जैसे बल्लालसेन ने बङ्गाल के सुवर्ण वणिकों को पतित कर दिया था (आगे देखिये) और कभी-कभी किसी एक महापुरुष ने जाति को ऊपर उठा दिया है, जैसा कि मणिपुर में हुआ है।

इन दिनों भी मनुष्य गणना से जाना गया है कि बहुत सी ब्राह्मण शाखाएँ नीची जातियों से ऊपर उठी हैं। विल्सन ने अपनी पुस्तक (What Castes are) में इसके कई उदाहरण दिये हैं। कोंकणस्थ या चित्पावन ब्राह्मणों के विषय में कहा जाता है कि परशु-राम ने श्राद्ध-कार्य के लिए ६० आदमियों को चिता से उठाकर ब्राह्मण बनाया था (पृ० १६) डाक्टर भाण्डारकर का कथन है

कि ये लोग एशिया माइनर स आये हुए है। इनका जहाज समुद्र मे डूब गया था, तब ये भारतवर्ष के पश्चिमी किनारे पर उतरे थे। पहले उन्हे हिन्दुओ ने समाज मे ग्रहण नही किया। बाद में परशुराम की कृपा से समाज मे गृहीत हुए[1] (Census. 1931 Vol I, Part III, XXVIII) जबल या जाबाल लोगो को भी दूसरे ब्राह्मण स्वीकार नहीं करते। कहते हैं इन्हे भी पेशवाओ के किसी सम्बन्धी परशुराम ने कुनबी श्रेणी से उठा कर ब्राह्मण बनाया था (What Castes Are P. 27)। काष्ठ ब्राह्मणों की भी यही दशा है। कोई-कोई कहते हैं कि ये पहले कायस्थ थे (पृ० २८)।

इसके विपरीत आन्ध्र देश के आराध्य नामक लिंगायत सम्प्रदाय के ब्राह्मण उच्चवर्णों की यद्यपि गुरुगिरी करते हैं तथापि अन्यान्य ब्राह्मण इनका ब्राह्मणत्व स्वीकार नही करते (पृ० ५२) तमिल और कर्णाट देश के नुम्बि ब्राह्मणगण मन्दिर के पुजारी होने के कारण अपांक्तेय हो गये हैं। अम्बलवासी गण दक्षिणी ब्राह्मण हैं किन्तु देवल ब्राह्मण होने के कारण महाराष्ट्र के गुरव ब्राह्मणों की भाँति पतित हो गये हैं (पृ० ८१)। गुर्जर देश में जो कण्डोल नामक एक श्रेणी के ब्राह्मण हैं, कण्डोल पुराण के अनुसार एक ही साथ १८००० आदमियो को जनेऊ देकर ब्राह्मण बनाया गया था।

राजपूताना, सिध और गुजरात मे बहुत से पुष्करण या पोखरना ब्राह्मण हैं। पुष्कर नामक ह्रद को जिन्होने कुदाल लेकर खोदा था, बाद में उन्हे ही पोखरना ब्राह्मण बना दिया गया था। इनके सिवा

---

[1] चित्पावनों के विषय में प्रसिद्ध है कि परशुराम ने पृथ्वी को क्षत्रिय-हीन करके यज्ञ और श्राद्ध करना चाहा। जब ब्राह्मण नहीं मिले, तो कैवर्तों के गले में जनेऊ डालकर उन्होंने उनको ब्राह्मण बनाया। चिता के पास खड़े होकर यह कार्य उन्होंने किया था अतएव ये चित्पावन कहलाये (Census Baroda 1931, I, P 433)

इन प्रदेशों में एक तरह के पोखर सेवक या पुष्कर सेवक नामक एक श्रेणी के ब्राह्मण हैं। ये लोग अपने को पाराशरी ब्राह्मण भी कहते हैं। कहते हैं किसी मेर जाति के आदमी के तीन पुत्र थे, भूपाल, नरपति और गजपाल। भूपाल ने एक मुनि की बडी सेवा की। मुनि ने भूपाल को ब्राह्मण बना कर यजुर्वेद की शिक्षा दी। तभी से भूपाल के वंशज पुष्करसेवक ब्राह्मण हुए। नरपति के वंश वाले लोद्या बनिया हुए और गजपाल की सन्तानें मेर हुईं। भूपाल के वंशवाले मंदिर के सेवक का कार्य करते हैं, उनका गोत्र वशिष्ठ है और शाखा मध्यन्दिन। एक बार जयपुर के महाराज सवाई जयसिह पुष्कर को गये। वहाँ पुष्कर ब्राह्मणों को तीर्थगुरु जानकर उन्होने एक पोशाक दी। ब्राह्मण ने वह पोशाक अपने दामाद को दिया यह दामाद जयपुर के एक मंदिर का भृत्य था। उसके पास पोशाक देखकर राजा जयसिह समझ सके कि असल में वे कैसे ब्राह्मण हे और बाद मे उन्होने पुष्करो को मंदिर के अधिकार से वंचित किया। पोखरना लोग सिध में भाटियो के पुरोहित हैं (वही पृ० ११४, १६६, १३६)। कोई कोई उन्हें धीवर-कन्या के गर्भ से उत्पन्न बताते हैं। (Crook, Vol. IV. P. 177)।

कहते हैं कि गुजरात के अम्भीर ब्राह्मण, राजपूत वंश के हैं। ये लोग अहीरो के पुरोहित है (Wilson P. 120)। सूरत जिले के तपोधन[1] ब्राह्मण शिव मंदिर के पुजारी होने के कारण पतित समझे गए हैं (पृ० १२२)। इसी तरह वहाँ के अनाविल ब्राह्मणो को भी; जिनकी वृत्ति कृषि है, बहुत से लोग ब्राह्मण नही मानते। कहते हैं वे स्थानीय पहाड़ी जाति के थे। इसी प्रकार सपादलक्ष या सवालाख

---

[1] तपोधनों को लोग जरा तिरस्कार के साथ 'भरड़ा' या भरटक कहते हैं। इनमें बहुत हाल तक विधवा-विवाह प्रचलित था पर अब सामाजिक प्रतिष्ठा के लोभ से इन्होंने यह प्रथा बन्द कर दी है।

संप्रदाय के ब्राह्मण भी शूद्रों को जनेऊ देकर बनाये गए थे।[1] Campbell, P. 259.)

प्रतापगढ़ के कुछ ब्राह्मण को अहीर बताया जाता है। कुछ लोग इन्हें कुर्मी और कुछ लोग इन्हें भाट कहते हैं। कहते हैं, कि राजा माणिकचंद ने उन्हें ब्राह्मण बनाया था (Campbell, P 260; Crook I P. XXI)। राजा लोग प्रायः अनेक बार जाति को ऊपर या नीचे चढ़ा उतार सकते थे। कहलूर नामक छोटे राज्य के कोलियों को वहाँ के राजा ने युद्ध के प्रयोजनवश क्षत्रिय बनाया था (Gloss. Vol I P. IV)।

अइली के ब्राह्मण नोनिया थे। असोथर के राजा भागवतराय ने उन्हें जनेऊ दिया था। गोरखपुर के बंजारे लोग अब ब्राह्मण होकर सुकुल, पांडे और मिसिर हो गये हैं (वही)। उन्नाव के राजा तिलकचंद ने एक बार प्यास के मारे लोध जाति के किसी के हाथ का जल पी लिया, जब उनकी जाति उन्हें मालूम हुई, तो उन्होंने इन लोगों को ब्राह्मण बना दिया। ये ही आमताड़ा के पाठक हैं (वही)।

उन्नाव के महावर राजपूत पहले बेहारा (कहार) थे। युद्ध में घायल हुए राजा तिलकचंद को उन्होंने युद्धस्थल से हटाया था। इसी उपकार के बदले में राजा ने उन्हें राजपूत बना दिया (वही २६१)। इसी जिले के डोमवार राजपूत गण पहले डोम थे (वही)। इसी प्रकार

---

[1] इनके विषय में प्रसिद्ध है कि श्रीराम जब लंका जीतकर घर की ओर लौट रहे थे तब बांशदाराज्य के पतउवाड़ नामक स्थान में यज्ञ करना चाहा। वहाँ ब्राह्मणों की जरूरत हुई। उन्होंने यहाँ के १८००० पहाड़ी लोगों को जनेऊ देकर बनाया। खूब सम्भव नये ब्राह्मणों ने वहाँ के पुराने ब्राह्मणों से द्वेष के कारण ऐसी कहानियाँ गढ़ ली हैं। नवसारी के अन्तर्गत अनवाला ग्राम के नाम पर इनका नाम अनवाला पड़ा। Census of India, Baroda Part I, 1932 P. 431)।

बहुत से राजपूत जाट और गूजर लोग सीदियन या शक जाति के हैं (वही पृ० ४४७)।

साउथ इण्डियन इन्स्क्रिप्शन के तीसरे जिल्द (पृ० ११४-११७) में शिव ब्राह्मण नामक एक विशेष श्रेणी के ब्राह्मणों का उल्लेख मिलता है। Ghurye P. 94)।

क्रूक ने लिखा है कि ओझा ब्राह्मण लोग भी पहले द्रविण बैगा जाति के थे। (वही XXII)। भूमिहार और तगा ब्राह्मणों का इतिहास भी ऐसा ही है (वही)। इन्होंने अपने ग्रन्थ के चतुर्थ खण्ड (पृ० १३) में ओझा ब्राह्मणों के सम्बन्ध में विवरण दिया है। तागा लोग कहते हैं कि वे लोग जनमेजय के सर्पयज्ञ के लिये बंगाल से बुलाये हुए किसी ब्राह्मण की सन्तान हैं। फिर यह भी किसी-किसी का मत है कि ये ब्राह्मण और विवाहिता वेश्या के गर्भ से उत्पन्न हैं। ये लोग ब्राह्मणोचित समस्त आचारों का पालन करते हैं। (Crook, IV P. 351—353)

बड़ौदा वाले सेन्सस (१६३२ ई०) से जान पड़ता है कि नागर लोगों के विषय में कहा जाता है कि वे नागवंशीय हैं। किसी-किसी मत से शिव के बिवाह के लिए और किसी-किसी के मत से शिव के यज्ञ के लिए नागर ब्राह्मणों का उद्भव हुआ था (पृ० ४३४)।

पञ्जाब में देखा जाता है कि बहुत से ब्राह्मण वंश धीरे-धीरे क्षत्रियत्व को प्राप्त हुए हैं। कांगड़ा, कोटल, वहावल और जब्बाल के राजपूत पहले ब्राह्मण थे। जब्बाल के पुरोहित उन्हीं के जाति भाई हैं (Gloss, Vol. 1, P. 41)।

अष्ट वंश के ब्राह्मणों में कोई शूद्र कन्या के साथ विवाह करें और उसकी व्याह शादी का सम्बन्ध ५, ६ पुश्त तक लगातार ब्राह्मण के घर ही होता रहे, तो वह ब्राह्मण ही हो जाता है (वही पृ० ४१)। ठीक ऐसा ही विधान पूर्वकालीन शास्त्रों में भी देखा जाता है। लाहौल के ठाकुर भी यदि कानेत की कन्या से व्याह करते हैं और ५, ६ पुश्त तक

इसी प्रकार ठाकुरों में ही शादी-व्याह का सम्बन्ध जारी रखते हैं, तो फिर विशुद्ध ठाकुर हो जाते हैं (वही पृ० ४२)। ब्राह्मण भी यदि कानेत-कन्या से व्याह करें तो यही नियम है (वही)। ये लाहौल के ठाकुर असल में मंगोलियन हैं। अब ये क्षत्रिय बन गये हैं। मगीय लोग भी ब्राह्मण हुए हैं। शाकद्वीपी ब्राह्मण विदेशी हैं, पहले वे लोग सूर्य-मन्दिर के पुरोहित थे (वही पृ० ४५)। (Cens. India, VI, 594) के अनुसार ये पहले पारसिकों के पुरोहित थे और ज्योतिःशास्त्र के अच्छे ज्ञाता थे। पञ्जाब में आभीर ब्राह्मण भी पाये जाते हैं (वही)। गूजर ब्राह्मणों का आगमन भी, कहते हैं, एशिया और यूरोप की सरहद पर से हुआ है (वही पृ० ४६)। मैत्रक लोग हूणों के साथ इस देश में आये थे (पृ० ४७)। अनेक ब्राह्मणों के नाम के साथ मित्रदत्त आदि उपाधियाँ देखी जाती हैं (वही पृ० ४७-४८)।

शिवल्ली ब्राह्मण लोग अहिच्छेत्र से तुलुदेश में वास करते हैं। इनमें स्त्रियों की संख्या बहुत कम है इसलिए उन्होंने बाँट आदि नीच जाति की स्त्रियों से विवाह करना शुरू किया। फिर माधवाचार्य के समय नये बने हुये ब्राह्मणों की संख्या के साथ इनकी संख्या भी बढ़ी। मत्ति ब्राह्मण पहले मोगार या कैवर्त्त थे बाद में एक संन्यासी की कृपा से ब्राह्मण हुए (Thurston, Vol. V, P. 64) स्थानीय ग्रन्थों और पुराणों से मालूम होता है कि कदंब वंशीय मयूरवर्मा के समय आन्ध्र ब्राह्मण लोग दक्षिणी कर्नाटक में बस गये। यज्ञादि प्रयोजन के अनुरूप उनकी संख्या न होने के कारण कितने ही अब्राह्मणों को ब्राह्मण बना लिया गया। इन नये ब्राह्मणों के गोत्रों के नाम जंतुओं और वृक्षों के हैं। मयूरवर्मा का समय ७५० ई० के आस-पास है (वही P. XLV. XLVI)। बहुतेरी नीच जातियाँ आचार-विचार की शुद्धि से ब्राह्मण हो गई हैं। द्रविण जातियों में ऐसा प्रायः ही हुआ है। बहुत बार राजा के आदेश से भी ऐसी बातें हुई हैं। मैसूर के मारक ब्राह्मण ऐसे ही हैं (वही P. LIII, LIV, 367)।

नम्बूद्री ब्राह्मणों का आजकल दावा है कि वे सब ब्राह्मणों से अधिक पवित्र और धर्माचारी हैं। किन्तु बहुत लोगों का मत है कि उनके पूर्व पुरुष मत्स्यजीवी थे। विवाह के समय अब भी उन्हें आचारानुरोध से मछली पकड़नी पड़ती है। शिवल्ली ब्राह्मणों में भी ऐसा ही आचार है (Vol. V, P. 202, 203, Vol. II, P. 330)। उड़ीसा के ब्राह्मण द्रविड़ ब्राह्मणों को पतित समझते हैं। वे और नीचतर जातियों के हाथ का जल तो ग्रहण कर सकते हैं पर द्रविड़ ब्राह्मणों के हाथ का नहीं (वही I, Vol. I P. 388)। इस प्रकार कितने ही कैवर्त तो ब्राह्मण हो गये पर मुत्राच कैवर्तवाण क्षत्रिय से कैवर्त्त हो गये! लोभ में पड़कर ये एक बार मछली मारने गये और पतित हो गये। आज उनका जल भी नहीं चलता (वही, Vol. V P. 130)।

तुलु लोगों के इतिहास से जान पड़ता है कि परशुराम की अहिक्षेत्र के ब्राह्मणों से नहीं बनी। इसलिए केरल में ब्राह्मण की आवश्यकता की पूर्ति के लिए उन्होंने जाल के सूत्र का जनेऊ देखकर जालियों को ब्राह्मण बनाया। वे इसीलिए ब्राह्मण हो गये। नागमाची ब्राह्मणों का भी यही किस्सा है (Vol. I, 373 Vol II, 330)। भोद्री ब्राह्मणों के पूर्व पुरुष भी नाई थे। भोद्री शब्द का अर्थ ही नाई होता है (वही पृ० ३३८)। दक्षिण के आराध्य ब्राह्मण अपने में ही विवाहादि करते हैं। आवश्यकता होने पर ये उत्तरी सरकार जिले के नियोगियों की कन्या ग्रहण करते हैं। इस पर से जान पड़ता है कि ये भी कभी नियोगी ही थे (पृ० ५३)। यह इस प्रसंग में उल्लेख योग्य है कि धक्कड़ो ब्राह्मण शूद्रकन्या से व्याह करने के कारण ही पतित हो गये हैं (वही Vol.II. 166)। आजकल के ब्राह्मण भद्रकाली मन्दिर के पुजारी हैं। मद्यपान करने से वे पतित हुए हैं (पृ० ३)। उत्री और तम्बल भी देवल होने के कारण नीच समझे जाते हैं। तंबल लोग गोदावरी और कृष्णा जिलों में ब्राह्मण ही कहलाते हैं पर

तिलंगाने में शूद्र की तरह अवज्ञात होते हैं (पृ० ५)। कम्मालन लोग अपने को विश्वकर्मा ब्राह्मण कहते हैं। ये लोग वेरीचेट्टी स्त्री के गर्भ से ब्राह्मण के औरस जात हैं (III, 113)। क्षत्रिय लोग प्राचीन काल में एक प्रकार के शिल्प कार्य और शिल्पियों को नीच समझते थे (P. 113) Castes and Tribes of Mysore ग्रन्थ में इनकी बात दी हुई है।

दक्षिण भारत के क्षत्रिय खूब सुसंस्कृत और पंडित होते हैं। इनका विवाहादि सम्बन्ध नम्बूद्री ब्राह्मण से होता है (वही IV. 84-85)।

भारतवर्ष के अनेक प्रदेशों में कृषक श्रेणी के ब्राह्मण हैं, जिनके विषय में अन्यान्य ब्राह्मणों का ख्याल है कि वे पहले किसान थे, बाद में ब्राह्मण हो गये। गुजरात के भाटेला, महाराष्ट्र के सेनवी, करनाटक के हैगा, उड़ीसा के महास्थान या मस्तान ब्राह्मण ऐसे ही हैं (Wilson, I, 52)। उड़ीसा के काम ब्रह्माण भी इसी तरह के हैं (Cens, Ind VI, 559)। बिहार और उत्तर प्रदेश ये भुँइहार या भूमिहार ब्राह्मणों के सम्बन्ध में प्रसिद्ध हैं कि भूमि-कर्षण के कारण ही उनका स्थान नीचे हो गया। क्रुक का अनुमान है कि ये लोग पहले गौड़ ब्राह्मण थे (Crook IV, P. 353 and, I XXII)।

काकण और मालाबार के ब्राह्मणों की आँखें कभी-कभी कोमल नील और धूसर रंग की पायी जाती हैं, जो भारतवर्ष की और किसी जाति में तो नहीं पायी जाती, सिर्फ सीरियन ईसाईयों में देखी जाती हैं। इस साम्य को देखकर तरह-तरह के अनुमान किये गये हैं और किये जा सकते हैं। (Cens. Ind. Vol. I, 1491)।

अब भी भारत के नाना प्रदेश की उच्चतर जातियों के चेहरों से ब्राह्मणों के चेहरे क्या भिन्न पाये जाते हैं ?

सारस्वत ब्राह्मणों की श्रेणी भोजक कहलाती है। ये लोग ज्वालामुखी-वासी हैं। उस प्रदेश के अन्यान्य ब्राह्मणों का कहना है

कि भोजक लोग पहले खेती करते थे। मन्दिर में सेवक का कार्य करने के कारण क्रमशः ब्राह्मण हो गये हैं (पृ० १३३)। मारवाड़ बीकानेर आदि में 'डाकोट' नामक एक ब्राह्मणों की शाखा है। ब्राह्मण पिता और आभीर (अहीर) माता से उनका जन्म है। ये लोग शनि की पूजा करते हैं और नीच दान ग्रहण करते हैं (पृ० १७३)। इसी तरह गरुड़िया ब्राह्मण भी, जिनके विषय में कहा जाता है कि ब्राह्मण पिता और चमारी माता से इनकी उत्पत्ति है, शनि का दान ग्रहण करते हैं। ये राजस्थान में अजमेर और उसके आस-पास बसे हैं (पृ० १७४)। बंगाल में जिस प्रकार अग्रदानी ब्राह्मण हैं, करीब-करीब उसी तरह राजपूताने में आचारज या आचार्य ब्राह्मण हैं। इनका वेद क्या है, और उत्पत्ति कैसे हुई, इस बात को स्वयं भी नहीं जानते, और कोई तो जानता ही नहीं (पृ० १७५) व्यासोक्त ब्राह्मण पहले शूद्र थे, फिर व्यास के वचन से बाद में ब्राह्मण हुए (पृ० २७५)। एक समय अस्पृश्य मादिगा जाति और वैश्य की जाति शायद एक ही थी (Thurs- III 327)।

बंगाल के 'युगी' या नाथ लोग पहले तो वेद स्मृति शासित हिन्दू ही नहीं थे। नाथ धर्म एक स्वतंत्र और पुराना धर्म है। मध्ययुग में इनमें के अधिकांश बाध्य होकर मुसलमान हो गये थे। ये ही जुलाहे हुए। ये स्वयं अपना पौरोहित्य किया करते थे। बाद में उन लोगों ने, जो पुरोहित का काम करते थे, जनेऊ पहनना शुरू किया। इससे समाज में एक बड़ा जबर्दस्त आन्दोलन हुआ। टिपरा जिले के कृष्ण-चन्द्रलाल ने जनेऊ पहनने का आन्दोलन ज्यादा किया था। बंगाल में इस प्रकार की कहावत भी मशहूर है कि 'जुगी के पास जनेऊ कब था, उन्हें तो कृष्णचन्द्र दालाल ने जनेऊ पहनाया।' अब इनमें से कितने ही बाहर जाकर पंडित, शर्मा और शर्मा से उपाध्याय होकर विधिवत् ब्राह्मण बन गये हैं। ऐसी कई घटनाएँ मैं व्यक्तिगत रूप से जानता हूँ।

तमिल और तंजोर प्रदेश में 'पत्लूनकरन्' तांतियों का स्थान है। ये गुजरात के आदिम अधिवासी हैं, इन्हें सौराष्ट्र कहते हैं। ये लोग ब्राह्मणत्व का दावा करते हैं (Mysore, IV P. 474)। ये लोग उपवीत धारण करते हैं और अय्या और आयंगर आदि पदवी धारण करते हैं (P. 475)। पटवेगर जाति भी इसी प्रकार गुजरात से आई हुई वयनजीवी जाति है। कहते हैं, शिव की जिह्वा से उनका जन्म है। मनुष्य की लज्जा बचाने के लिए वस्त्र-वयन का आदेश पाकर ये लोग आजकल यही कार्य कर रहे हैं। उनके आदि पुरुष से ब्राह्मण से उपवीत और वेद पाया था (पृ० ४७६-४७७)। शाले जाति की भी यही कहानी है। ये भी वयनजीवी हैं। ये शास्त्री पदवी का व्यवहार भी करते हैं और ब्राह्मणों की भाँति इनके वेद, शाखा और गोत्र भी हैं (वही P. 559-560)!

असम की 'करिया' जाति अपने को अब 'सूत' कहती है (Cens Ind. 1921, III. Assam I, 143)। यह पहले ही कहा जा चुका है कि काछारी लोग हिन्दू गुरू से मंत्र लेकर शरणिया हुए थे। फिर छोटे कोच फिर बड़े कोच और फिर क्षत्रिय—यही सिलसिला है (Cens. Ind. 1931, III Part, I, P. 2. 1.)। इस प्रकार इन प्रदेशों में आजकल क्षत्रियों की संख्या बढ़ रही है। कहते हैं 'आहोम' नामक मंगोलियन जाति और ब्राह्मण के संसर्ग से यहाँ के गणकों का जन्म है। ये गणक लोग ब्राह्मणत्व का दावा करते हैं (Cens. Ind. 1921 Assam- I, 144)।

सेंगर राजपूतों का कहना है कि वे शृङ्गी ऋषि की सन्तान है। संभवतः ये पहले ब्राह्मण थे और राजपूतों के साथ विवाहादि सम्बन्ध करके बाद में राजपूत हो गए हैं (Crook IV, 123-133)। अनन्तकृष्ण शास्त्री का कहना है कि दक्षिण भारत के भाट शायद पहले ब्राह्मण ही थे बाद में क्षत्रियों के साथ सम्बन्ध होने से पतित समझे गये (Mysore, II, 276)।

कहीं-कहीं दक्षिण भारत में दरजी भी क्षत्रियत्व का दावा करते हैं। कहते हैं, परशुराम के भय से उन्होंने अपनी जाति और पेशा छिपा रखा था (वही III, 77)।

पंजाब की पुरानी कथाओं से मालूम होता है कि डोमों के आदि पुरुष ब्राह्मण थे। सबके कल्याणार्थ मृत गाय हटाने जाकर वे जाति दे बैठे (Crook, II 315)। ऐसी ही एक और मनोरंजक कहानी है। एक राजा की दो लड़कियाँ थीं। एक का पुत्र बलिष्ठ था और दूसरे का दुर्बल। जो दुर्बल था वह स्वभावतः ही ईर्ष्या-परायण था। एक दिन एक हाथी मर गया था। बलिष्ठपुत्र ने लोक-कल्याण की भावना से मृत हस्ती को उठाकर अन्यत्र फेंक दिया। दुर्बल पुत्र को मौका मिला और उसने बलिष्ठ पुत्र के विरुद्ध इस अप-कर्म के कारण अभियोग शुरू किया और समाज ने भी बलिष्ठ भाई को पतित बनाया। उसीके वंशज चमार हैं, जो अब मृत पशु को हटाने का काम करते हैं (वही I, P. 22)।

'ढेड़' लोग भी गुजरात की अस्पृश्य जाति के हैं। इनका भी कहना है कि ये थे तो क्षत्रिय ही, किन्तु बाद में परशुराम के भय से अपनी जाति छिपा दी थी (Cens. Bar. XIX I Art I 479)। इनका चेहरा सुन्दर होता है और गोत्रादि भी ठीक राजपूतों ही जैसा होता है।

कृषि-कार्य के कारण पंजाब के अनेक ब्राह्मणों को तगा लोगों की तरह पतित होना पड़ा (Punjab castes P. 6)। पहाड़ की थावी जाति उस दिन भी ब्राह्मण थी किन्तु शिल्प-जीवी होने के कारण उसका पद गिर गया (वही)। दिल्ली प्रदेश के धारूकरागण अच्छे ब्राह्मण थे, समाज में विधवा-विवाह स्वीकार करने के कारण ही उनका पतन हुआ (वही)। उस प्रदेश में वृत्तिवश एक ही श्रेणी में कोई कावेथ या कायस्थ है, कोई बनिया और कृषि-जीवी होने के कारण कोई राजपूत है (वही पृ० ७)। कभी-कभी राजा लोगों ने

गिर्थ आदि हीन जातियों को प्रसन्न होकर क्षत्रिय बना दिया है (वही)। पञ्जाब के पहाड़ी प्रदेशों के अनेक राजपूत परिवार पहले ब्राह्मण थे। उन प्रदेशों में जाति अब भी बहुत लचीली चीज है। देश-काल पात्र के अनुसार बदलती रहती है (वही)। दिल्ली के चौहान अच्छे राजपूत हैं पर विधवा-विवाह की स्वीकृति के कारण पतित समझे जाने लगे हैं (वही)। जो स्त्रियों को परदे में रख सकते हैं वे राजपूत हो जाते हैं और जो नहीं रख सकते वे जाट हो जाते हैं (पृ०७-८)। एक दल राजपूत साग-सब्जी के उत्पन्न करने के कारण होशियारपुर में अति नीच अराइन जाति के हो गये हैं (वही पृ० ८)। रेवाड़ी के अहीर विधवा-विवाह का त्याग करके परदा प्रथा स्वीकार करके और अन्य अहीरों से सम्बन्ध त्याग करके एक स्वतन्त्र उच्चतर श्रेणी में बदल गये हैं (वही) धीरे-धीरे ये राजपूत हो जायँगे।

राजस्थान में एक तरह के हुसेनी ब्राह्मण हैं, जो आधा हिन्दू आधा मुसल्मान जैसी अनेक जातियों के गुरु हैं। अजमेर के मैनुद्दीन चिश्ती के समाधिस्थान पर इनमें से अनेक दिखाई दे जाते हैं (पृ० २६, १३४)।

बहुत दिनों की बात नहीं है। राजा घोरिटनवर्जे के समय में मणिपुर एक संन्यासी ने वहाँ वालों में वर्णाश्रम धर्म का प्रवर्तन किया। उस प्रदेश में जो कुछ बंगाली ब्राह्मण पहुँचे उन्होंने स्थानीय जातियों की कन्याओं से विवाह किया और उनसे जो सन्तति उत्पन्न हुई वह मणिपुर में ब्राह्मण हैं (Ccns, Inb Vol VI. 349)। असम के काच्छारी और कोच जो निरन्तर हिन्दू धर्म में शामिल होते जा रहे हैं, यह बात पहले ही बताई गई है (E. R. E. II, 138-39)। मणिपुर के राजा और राजवंशीयगण क्षत्रिय हैं, बाकी में से कुछ शूद्र हैं, कुछ ब्राह्मण। यह सब कुछ सिर्फ १५० वर्षों के भीतर हुआ है (Cens. Ind Vol. VI, 221)। आजकल इन लोगों में वर्णाश्रम व्यवस्था की सारी जटिलता इतनी मात्रा में आ गई

है कि भारतवर्ष का कोई भी सनातनी सम्प्रदाय उसके सामने हतबुद्धि हो सकता है—सब सिर्फ १५० वर्षों में !

सन् १९३२ ई० में डा० डी० आर० भाण्डारकर ने (Indian Antiquary (P. 41-55-61-72) में एक लेख लिखकर सिद्ध किया था कि बङ्गाल के कायस्थ और गुजरात के नागर ब्राह्मण मूलतः एक ही हैं। नागरों में भी वही सब गोत्र और उपाधि है, जैसे दत्त, घोष, नाग, इत्यादि। भूति, दाम, दास, देव, पाल, पालित, सेन, सोम, वसु आदि उपाधि भी उनमें हैं (पृ० ४३)। सिलहट के विधानपुर में एक ताम्रशासन पाया गया है, जिससे इस बात की और भी पुष्टि हुई है (पृ० ४३)। प्राचीन ताम्रशासन में ब्राह्मणों की पदवी में भी भूति, चन्द्र, दास, दाम, दत्त, देव, घोष, मित्र, नन्दी, सोम आदि उपाधियाँ हैं। उड़ीसा में कटक के नेउलपुर में प्राप्त ताम्रशासन में भी भूति, चन्द्र, देव, दत्त, घोष, कर, कुण्ड, नाग, रक्षित, शर्मन आदि उपाधियाँ हैं। यह ताम्रशासन सन् ७९५ ई० के आस-पास का है। सेन राजगण भी ब्राह्मण वंश में उत्पन्न होकर क्षत्रिय वृत्ति भोगी हुए थे, इसीलिए माधाई नगर के ताम्रशासन में लक्ष्मणसेन ने अपने को 'परम ब्रह्म-क्षत्रिय' कहा है (पृ०५२)।

सिलहट में सर्वत्र 'दाश' लोगों की बस्ती है। इनका जल नहीं चलता था, पर अब हबीगंज के सिवा अन्यत्र इनका जल चलता है। पर आश्चर्य यह है कि इनके पुरोहित ब्राह्मणों का जल नहीं चलता। कहते हैं, किसी राजा ने माली के गले में जनेऊ डालकर इन्हें ब्राह्मण बनाया था। इसी ब्राह्मण वंश के लोग दाशों के पुरोहित हैं। इसी तरह कैवर्तों का जल चलता है पर उनके ब्राह्मणों का नहीं! श्रीलालमोहन विद्यानिधि ने भी यह बात लिखी है (सम्बन्ध निर्णय पृ० १९२)।

देवल ब्राह्मण अनेक स्थानों पर वृत्ति के कारण पतित माने गये हैं। काशी के गंगापुत्रगण यद्यपि तीर्थगुरु (पण्डा) हैं तथापि अन्य ब्राह्मण उनको नहीं स्वीकार करना चाहते। गयावाल ब्राह्मणों की भी

यही दशा है। बहुत लोगों का मत है कि ये अनार्यों के ब्राह्मण थे (E. R. E. III, 233)। फिर भी सभी हिन्दू, यहाँ तक कि ब्राह्मण भी इनकी चरणपूजा करते हैं द्वारका के तीर्थगुरु गुगली या गोकुली ब्राह्मण भी इसी प्रकार तीर्थ गुरु होकर भी हीन माने जाते हैं (What Castes Are II, 101)। मथुरा के चौबे लोगों के आचार-व्यवहार और विवाहादि सम्बन्ध में कई लोगों ने सन्देह किया है कि वह आर्योचित नहीं है।

बंगाल के आचार्य या गणक ब्राह्मण भी हीन समझे जाते हैं। अन्यान्य प्रदेशों में शाकद्वीपियों की भी यही दशा है। बंगाल के कई ब्राह्मणगण भी निम्न वर्ण के लोगों की यजमानी के कारण हीन समझे गये हैं। अग्रदानी लोग श्राद्ध में पहले (अग्र) दान लेने के कारण पतित हुए हैं (वही, २१३)। भाट ब्राह्मणों का स्थान समाज में अति हीन है। किन्तु राजपूतों में, चारणों का खूब सम्मान है। पर ये लोग ब्राह्मण नहीं हैं। किसी-किसी शाखा के राजपूतों और चारणों में विवाहादि सम्बन्ध चलता है (वही० पृ० १८१)। जान पड़ता है कि सिलहट के भाट ऐसे ही हैं; अपने देश में वे क्षत्रिय कहलाते हैं।

जैसा कि पहले ही कहा गया है राजा वल्लालसेन ने सुवर्णवणिकों को पतित किया था। उन्होंने दंभ के साथ कहा था यदि दांभिक सुवर्णवणिकों को शूद्र न बना दूँ, तो मुझे गोघात और ब्रह्मघात का पाप हो—यदि दांभिकान् सुवर्णवणिजः शूद्रत्वे न पातयिष्दामि...गो ब्राह्मण घातेन यानि पातकानि तानि मे भविष्यन्ति (बल्लालचरित, २३ अध्याय)। इन्होंने ही कैवर्त, मालाकार, कुम्भकार, और लुहार (कामार) जाति का जल चलवाया था।

नम्बूद्री ब्राह्मणों की आचारनिष्ठा और नायर कन्याओं के साथ 'सम्बन्धम्' की चर्चा पहले हो चुकी है। ये ही आचारनिष्ठ ब्राह्मण तो क्षत्रियों के हाथ का खाते हैं पर नायर स्त्रियाँ नहीं खातीं (What Castes Are p. 76)।

तुलुर या तुलव ब्राह्मण भी नम्बूद्रियों के समान ही सम्मानित हैं। वे अपने को ही उस प्रदेश मालिक समझते हैं। उस देश की क्षत्रिय राज-कन्याओं के साथ सहवास करने का एकमात्र अधिकार उन्हीं को है। कुमली राज की कन्याओं के साथ तुलव ब्राह्मण के सहवास से जो पुत्र उत्पन्न होता है, वही राज्य का अधिकारी होता है। इच्छा हो तो राजकन्याएं ब्राह्मण बदल भी सकती हैं (वही पृ० ७०)।

कहीं-कहीं ब्राह्मणों में भी विधवा-विवाह प्रचलित है। औदीच्य ब्राह्मणों में श्रीमाली लोग विधवाओं का विवाह करते हैं (पृ० ६८)। बगड़ औदीच्य भी विधवा-विवाह करते हैं, इसीलिए वे हीन माने जाते हैं। किन्तु इनके साथ हलवद् औदिच्यों का सम्बन्ध होता है। हलवद् लोगों के साथ कुलीन सिद्धपुरियों का सम्बन्ध होता है (Cens Bar 432) गुजरात और काठियावाड़ के सिंधव सारस्वतों में विधवा-विवाह प्रचलित है। ये यजुर्वेदी ब्राह्मण हैं (वही १०५)।

क्रुक कहते हैं कि राजपूत और ब्राह्मणों में बहुतेरी आर्यपूर्व जातियों का मिश्रण है (P 201)। मध्य भारत में बहुत-सी गोंड जातियाँ धीरे-धीरे राजपूत बन गई हैं। अवध में बहुत थोड़े दिन पहले बहुत-सी जातियाँ राजपूत बन गई हैं (वही)। वैगा नामक भूत झाड़ने वाले ओझा पहले अनार्य थे। बाद में ब्रह्मण हो गये हैं।• (वही)।

गुर्खों की खस जाति में ऊँची जातियाँ नीची जाति की कन्या से विवाह कर सकती हैं। इनसे उत्पन्न सन्तान एक सीढ़ी नीचे की जाति होती है (Camp. 318)

पञ्जाब में किन्हीं-किन्हीं ब्राह्मण-क्षत्रियों में विधवा-विवाह प्रचलित है (वही ४०३)। लोहाना लोगों में विधवा-विवाह प्रचलित है, ये लोग जनेऊ धारण करते हैं। इनके पुरोहित सारस्वत ब्राह्मण उनके साथ खाते हैं। भाटिया लोगों की भी बहुत कुछ ऐसी ही रीति है (Cens. Bar. 449)। गुजरात के सारस्वतों में भी विधवा-विवाह चलता है (Crook, IV, 290)।

भारत में नाना संस्कृतियों का संगम

वर्तमान हिन्दू धर्म में बाहर से आये हुये मतों और आचारों का परिमाण कम नहीं है। पुराणों को देखने से ही यह बात स्पष्ट हो जाती है कि शिव, विष्णु आदि की पूजा कितनी विरुद्धताओं के भीतर से हिन्दू-समाज में प्रविष्ट हुई थी, फिर भी उसका प्रभाव इस समय कितना गम्भीर और कितना व्यापक है!

भागवत के दशमस्कंध के ग्यारहवें अध्याय में देखा जाता है कि श्रीकृष्ण ने इन्द्रादि देवता की उपासना बन्द करके वैष्णव प्रेम-भक्ति की स्थापना करनी चाही थी। कितने तर्कों और वाद-प्रतिवादों के भीतर से उन्हें अग्रसर होना पड़ा था, यह बात मूल भागवत के उस प्रसंग को पढ़ने से ही स्पष्ट हो जाती है।

बहुत लोग समझते हैं कि वेदों में आनेवाले 'शिश्नदेव' (ऋग्वेद ७.२१.५; १०.९९.३) आर्येतर जाति के लिंग-पूजक थे। आर्य लोग इसे पसन्द नहीं करते थे। पर कुछ लोग 'शिश्नदेव' शब्द का अर्थ चरित्रहीन समझते हैं। एक के बाद दूसरे पुराणों में हम देखते हैं कि ऋषि-मुनि लोग शिव-पूजा और लिंग-पूजा को आर्य-धर्म से दूर रखने के लिये जीतोड़ प्रयत्न कर रहे हैं; किन्तु ऋषि-पत्नीगण उनके विरुद्ध आचरण करके शिव-पूजा और लिंग-पूजा को भारतीय आर्य-समाज में चला देने में सफल हो गईं।

महादेव नग्न वेश में नवीन तापस का रूप धारण करके मुनियों के तपोवन में आये (वामनपुराण ४३ अध्याय, ५१६२ श्लोक)। मुनि-पत्नीगण ने देख करके उन्हें घेर लिया (वही ६३-६९ श्लोक)। मुनिगण अपने ही आश्रम में मुनि-पत्नियों की ऐसी अभव्य कामातुरता देखकर 'मारो, मारो' कहकर काष्ठ-पाषाण आदि लेकर दौड़ पड़े :—

क्षोभं विलोक्य मुनय आश्रमे तु स्वयोषिताम् ।
हन्यतामिति सम्भाष्य काष्ठपाषाणपाणयः ।

(वामनपुराण, ४३, ७०)

यह कहकर उन्होंने शिव के भीषण ऊर्ध्वलिंग को निपातित किया :—

पातयन्ति स्म देवस्य लिंगमूर्ध्वं विभीषणम् ।

(वही, ७१)

बाद में मुनियों के मन में भी भय का संचार हुआ। ब्रह्मा आदि ने भी उन्हें समझाया-बुझाया और अन्त में मुनि-पत्नियों की एकान्त अभिलषित शिव-पूजा प्रवर्तित हुई। (वामन ४३-४४ अध्याय)।

ऐसी कहानियाँ अनेक पुराणों में हैं, जिन्हें विस्तार-भय से यहाँ उद्धृत नहीं किया जा रहा है। उदाहरण के लिए कुछ कहानियाँ दी जाती हैं :—

कूर्मपुराण, उपरि भाग ३७ अध्याय में कथा है कि पुरुष-वेशधारी शिव नारी-वेशधारी विष्णु को लेकर सहस्र मुनिगण-सेवित देवदारु-वन में विचरण करने लगे। उन्हें देखकर मुनि-पत्नियाँ कामार्त्त होकर निर्लज्ज आचरण करने आने लगीं (१३-१७ श्लोक)। मुनि-पुत्रगण भी नारी रूपधारी विष्णु को देखकर मोहित हुए। मुनिगण मारे क्रोध के शिव क अतिशय निष्ठुर वाक्य से भर्त्सना करने और अभिशाप देने लगे :—

अतीव परुषं वाक्यं प्रोचुर्देवं कपर्दिनम् ।
शेपुश्च शापैर्विविधैर्मायया तस्य मोहिताः ।

(कूर्म० ३७, २२)

किन्तु अरुन्धती ने शिव की अर्चना की। ऋषिगण शिव को 'यष्टि-मुष्टि प्रहार' या लाठी और घूँसे की चोट करते हुए बोले—'तू यह लिंग उत्पाटन कर।' महादेव को वही करना पड़ा। पर बाद में देखते हैं कि इन्हीं मुनियों को इसी शिव-लिंग की पूजा स्वीकार करने को बाध्य होना पड़ा !

शिवपुराण के धर्मसंहिता के दसवें अध्याय में देखा जाता है कि शिव ही आदि देवता हैं; ब्रह्मा और विष्णु को उनके लिंग का आदि मूल अन्वेषण करने जाकर हार माननी पड़ी (१६-२१)। देवदारु-वन में सुरतप्रिय शिव विहार करने लगे (७८-७६)। मुनि-पत्नियाँ काम-मोहित होकर नानाविध अश्लीलाचार करने लगीं (११२-१२८)। शिव ने उनकी अभिलाषा पूरी की (१५८)। मुनिगण काममोहिता पत्नियों को सँभालने में व्यस्त हुए (१६०); पर पत्नियाँ मानी नहीं (१६१)। फलतः मुनियों ने शिव पर प्रहार किये (१६२-१६३) इत्यादि। अन्य सब मुनि-पत्नियों ने शिव को कामार्त्त होकर ग्रहण किया था; पर अरुन्धती ने वात्सल्य भाव से पूजा की (१७८)। भृगु के शाप से शिव का लिंग भूतल में पतित हुआ (१८७)। भृगु धर्म और नीति की दुहाई देने लगे (१८८-१६२); किन्तु अन्त में मुनिगण शिवलिंग की पूजा करने को बाध्य हुए (२०३-२०७)।

यही कथा स्कन्दपुराण, महेश्वरखंड, षठाध्याय में है, और यह एक ही कथा लिंगपुराण (पूर्व भाग, ३७ अध्याय, ३२-५०) में भी पायी जाती है। इसी तरह वायुपुराण के महेश्वरखण्ड में शिव की कथा कही गयी है। नागरखण्ड के शुरू में भी वही कथा है। आनर्त देश के मुनि-जनाश्रय वन में किस प्रकार भगवान शंकर नग्न वेश में पहुँचे (१-१२), किस प्रकार मुनि-पत्नियों का आचरण शिष्टता की सीमा पार कर गया (१३-१७) मुनिगण यह सब देखकर क्रुद्ध होकर बोले—रे पापी, तूने चूँकि हमारे आश्रम को विडम्बित किया है, इसलिए तेरा लिंग अभी भूपतित होवे —

यस्मात्पापत्वयास्माकं आश्रमोऽयं विडम्बितः।
तस्माल्लिगं पतत्वाशु तवैव वसुधातले।
(पद्मपुराण, नागरखण्ड १-२०)

किन्तु यहाँ भी मुनियों को झुकना पड़ा। जगत् में नाना उत्पात उप-

स्थित हुए (२३-२४), देवतागण भीत हुये और धीरे-धीरे शिव-पूजा स्वीकार कर ली गई ।

मुनि-पत्नियों का जो यह शिव-पूजा के प्रति उत्साह दिखाई पड़ता है, उसका कारण पुराणों में उनकी कामुकता बताई गई है; पर यही क्या वास्तविक व्याख्या है ? सम्भवतः उन दिनों मुनि-पत्नियाँ अधिकतर आर्येतर शूद्र-कुलोत्पन्ना थीं, इसीलिए वे अपने पितृकुल देवता की पूजा करने के लिए इतनी व्याकुल थीं । पतिकुल में आकर भी वे अपने पितृकुल के देवता को न भूल सकीं। यह व्याख्या ही अधिक युक्तियुक्त जान पड़ती है । प्राचीनतर इतिहास की बात यदि कही जाती, तो मुनि-पत्नियों को व्यर्थ ही इतनी हीन-चरित्रा चित्रित करने की जरूरत नहीं होती ।

पुराणादि में ऐसे आख्यान और भी अनेक स्थानों पर पाये जाते हैं । विस्तर-भय से वे यहाँ उद्धृत नहीं किये जा रहे हैं । दक्ष-यज्ञ में शिव के साथ दक्ष का विरोध वस्तुतः आर्य वेदाचार के साथ आर्येतर शिवोपासना का विरोध ही है । दक्ष के यज्ञ में शिव नहीं बुलाये गये, और शिवहीन यज्ञ भूत-प्रेत प्रमथादि द्वारा विध्वस्त हुआ, इसीसे जाना जाता है कि शिव उस समय तक आर्येतर जातियों के देवता थे । शिव किरातवेशी, शिवानी शबरी-मूर्ति, शिव शबर-पूजित थे—ये सब कथाएँ नाना पुराणों में नाना भाव से मिलती हैं ।

वैदिक युग में शिव नामधारी एक जनपदवासी मनुष्य की खबर पायी जाती है । (ऋग्वेद ८. १८.७) । पुराण के शिव देवता के साथ क्या इन लोगों का योग था ? अनेक अनार्य देवताओं को आर्य लोग अस्वीकार नहीं कर सके । आसपास के चतुर्दिक प्रचलित प्रभाव को रोक रखना असंभव है । प्राचीन आर्यगण भी समझ सके थे कि गण-चित्त को प्रसन्न किये बिना वास करना कठिन है । इसीलिए सब यज्ञों में पहले गण-देवता गणपति की पूजा की व्यवस्था की गई । प्राचीन हव्य-कव्य के मंत्रों में ऐसे बहुत हैं, जिनमें असुर यातुधान और क्रव्यादों को दूर करने के मंत्र हैं । आज भी श्राद्धकाल में पढ़ा जाता है—

ओं निहन्मि सर्वं यदमेध्यवद्भवेद्
हताश्च सर्वेऽसुरदानवा मया।
रक्षांसि यक्षाः सपिशाचसंघाः
हता मया यातुधानाश्च सर्वे।
(पुरोहितदर्पण १३१६,१५४५)

और

ओं अपहता असुरा रक्षांसि वेदिषदः।

लेकिन इस प्रकार धर-पकड़ से कब याग-यज्ञ चल सकते हैं। इसीलिए यज्ञारम्भ में ही गणपति की पूजा विधान करना पड़ा। इसीलिए गणपति का नाम विघ्ननाशन है इसी प्रकार होमाग्नि के पास ही शालिग्राम की शिला स्थापित करके गण-चित्त को प्रसन्न करना पड़ता। इसी प्रकार पश्चिम भारत में हनुमान् आदि की पूजा गृहीत हुई।

यजुर्वेद की वाजसनेयीसंहिता में (२.६.१-१०) इन्हीं कारणों से रुद्र और शिव को अपनाकर गण-चित्त की आराधना करने की चेष्टा देखी जाती है। अथर्ववेद के भी अनेक सूक्तों में इस प्रकार के प्रयत्न का परिचय मिलता है (दे० ४-२६; ७-४२; ७-६२ इत्यादि)।

शिव के साथ सम्बन्ध-युक्त होकर भी शिव को न मानने के कारण यज्ञ की दुर्गति हुई। भृगु ने जो लिंगधारी शिव को शाप दिया था, यह बात आगे हमने नाना पुराणों के उद्धृत वाक्य में ही देखा है। इन्ही भृगु ने विष्णु के वक्षस्थल पर पदाघात किया था। जान पड़ता है, भृगुगण खूब निष्ठावान् वैदिक थे। वैष्णव धर्म प्राचीनतर वैदिक के उस पदाघात से लांछित होकर हमारे देश में प्रतिष्ठत हुआ। इन्द्र के बाद विष्णु का नाम हुआ "उपेन्द्र इन्द्रावरजः" (अमरकोष)। इन दोनों ही नामों का अर्थ है 'इन्द्र का परवर्ती'।

बहुत दिन पहले की बात है, मैं एक बार गुजरात-बड़ौदा के अंतर्गत 'कारवण' नामक एक गाँव में गया था। वहाँ बहुत से देव-मन्दिर

हैं। तीर्थ होने के कारण ग्राम की अच्छी ख्याति है। वहाँ मुखलिंग देखने के लिए निकलकर मैंने देखा कि मन्दिर के बाहर एक पत्थर पर मस्जिद की मूर्ति खुदी हुई है। पूछने पर मालूम हुआ कि इसी कौशल से इस मन्दिर को हिन्दुओं ने मुसलमानों के आक्रमण से बचाया था।

देवी-पूजा और तन्त्र-मत भी धीरे-धीरे वैदिक मत के पास बाहर से आकर खड़े हुए हैं। असल वैदिक मतवादी आचार्यगण उसे शास्त्र और सदाचार के विरुद्ध ही समझते रहे हैं। मूल आर्य-भूमि से क्रमशः दूर जाकर इन वस्तुओं के साथ आर्य लोगों का परिचय हुआ था। इच्छा से हो या अनिच्छा से, इन मतों को ग्रहण करने के सिवा उनके पास कोई चारा न था। इसीलिये आज वैदिक संध्या के साथ तान्त्रिक संध्या साधारणतः सभी इस देश में किया करते हैं। गुजरात में मैंने देखा है कि ब्राह्मणों के यहाँ भी प्रति परिवार में एक कुल देवी हैं। बहुतों की कुलदेवी कूप में दीवार के ऊपर गुँथी हुई हैं। सबकी दृष्टि से दूर संरक्षित हैं। फिर भी विवाहादि प्रत्येक अनुष्ठान में कुलदेवी की पूजा करनी ही होती है। इसी प्रकार ग्राम-देवी और ग्राम-देवता भी क्रमशः हमारे समाज में आते रहे हैं, और इनकी ठेलमेल आज इतनी बढ़ गई है कि बेचारे वैदिक देवताओं को ही स्थान-च्युत होना पड़ा है। आजकल देवी-माहात्म्य के गानों में प्रायः सुनाई देता है कि 'गावत वेद अघात नहीं यश तेरो महामहिमामयी माता!' गोस्वामी तुलसीदास तो महान् पण्डित थे, फिर भी उन्होंने प्रतिपक्ष के मत को आघात करते समय अपने मत को वेद-सम्मत मत कहा है :—

श्रुति सम्मत हरि भक्ति पथ।

(रामचरितमानस, उत्तर, दोहा १९९)

इन वेदबाह्य देवताओं की पूजा के पुरोहित भी आर्येतर जाति के लोग ही थे। उन दिनों ब्राह्मण लोग इन देवताओं के विरोधी थे।

क्रमशः जब इन देवताओं का प्रवेश वेदपंथियों के ग्रंथों में भी हुआ, तब ब्राह्मण लोग भी इन देवताओं के पौरोहित्य में व्रती हुए। दक्षिण में स्त्रियाँ देव-मन्दिर की पुरोहिता हुआ करती थीं, क्योंकि वहाँ के समाज में स्त्री का ही प्राधान्य था। उस मातृ-तन्त्र देश में जब वैदिक धर्म पहुँचा, तो तब भी स्त्रियों के फूँकने से ही अग्नि-देवता प्रज्वलित होते थे। महाभारत के सहदेव के दिग्विजय-प्रसंग में कहा गया है कि जब सहदेव माहिष्मतीपुरी में पहुँचे, तो उन्होंने देखा कि वहाँ अग्नि-देवता सुन्दरी कुमारिकाओं के ओष्ठपुट-विनिर्गत वायु सिवा अन्य किसी भी प्रकार के व्यंजन से प्रज्वलित नहीं होते थे :—

> **व्यजनैर्धूयमानोऽपि तावत्प्रज्वलते नसः।**
> **यावच्चारुपुटौकेष्ठेन वायुना न विधूयते।**
>
> **(सभापर्व ३०.२३)**

अग्नि ने भी सुन्दरी कन्याओं का संग-लाभ करके उन्हें वर दिया कि तुम्हारे लिए अप्रतिवारण अखण्ड स्वेच्छा विहार विदित हुआ। इसीलिये वहाँ की स्त्रियाँ स्वैरिणी और यथाकाम-विहारिणी थीं:—

> **एवमग्निर्वरं प्रादात् स्त्रीणामप्रतिवारणे।**
> **स्वैरिण्यस्तत्रनार्यो हि यथेष्टं विचरंत्युत।**
>
> **(सभापर्व ३०.३८)**

स्त्रियाँ ही वहाँ प्रधान थीं। वे ही देवता की साधिकाएँ थीं। उनकी देव-सेवा का यह अधिकार क्रमशः ब्राह्मणों के हाथ में चला गया है। इस समय वे देव-मन्दिर में नर्तकी या देवदासी भर रह गई हैं। यह काम भी प्राचीन काल के परिपूर्ण सेवा-कर्म के अल्प अंशमात्र में पर्यवसित हो जाने के कारण आजकल मलिन और दूषित हो गया है। दक्षिण देश का प्रभाव उड़ीसा तक व्याप्त है। इसीलिये पुरी के जगन्नाथ मन्दिर में अब भी देवदासी की प्रथा प्रचलित है।

वेद के परवर्ती सब देवताओं के पुरोहित या तो स्त्री हैं या अनार्य-

जातियाँ। आज भी शूद्र का पौरोहित्य सम्पूर्ण-रूप से लुप्त नहीं हुआ। यद्यपि ब्राह्मणों ने प्रायः सभी पर अधिकार कर लिया है, तथापि नाना छिद्रों से उस प्राचीन युग का आभास मिल ही जाता है। दक्षिण के दासरी शूद्र हैं। उनका पूर्व गौरव अब नहीं है, तथापि वे आज भी बहुत-सी जातियों के गुरु-रूप में पूज्य हैं (Mysore Tribes and Castes, Vol. III. P. 117)।

इरालिगा जाति किसी जमाने में यायावर थी। आजकल उनकी सामाजिक स्थिति अत्यन्त हीन है। (कहते हैं, वे देवी के अपने हाथों रचित मनुष्य की सन्तान हैं।) ये लोग वन-देवी के पूजक हैं, इसी-लिए इन्हें पुजारी कहते हैं। मादिगा एक अति हीन जाति है। इनमें देवी को पूजनेवाली बहुत स्त्रियाँ हैं। इन्हें मातंगी कहते हैं। एक मादिगा बालक कहीं बाहर परदेश में ब्राह्मण का छद्म वेश बना-कर गया और वहाँ एक ब्राह्मण-कन्या से विवाह किया। बात खुलने पर कन्या ने अग्नि-प्रवेश किया। वही व्याधि की देवी 'मारी' हुई (Mysore, Vol. III. P. 157)। 'मारी' के पूजक मादिगा भी अत्यन्त हीन जाति के हैं। इसी 'मारी' से क्या बङ्गाल के 'मारी भय' वाली कहावत का सम्बन्ध है?

दक्षिण के त्रिवांकुर स्टेट में बसनेवाली कानिकर-जाति असभ्य जंगली है। उनके सभी देवता प्रायः देवियाँ ही हैं। इनकी पूजा मीन और कन्या में अर्थात् वसन्त में और शरत् में (Thurston, Vol. III, P. 170) होती है। हमारी शारदीय और वासन्ती पूजाओं की इनसे तुलना की जा सकती है।

जगन्नाथ मन्दिर में प्राचीन काल से एक श्रेणी के हीन जातीय सेवक हैं। ये 'दैत' या शबर जाति के हैं। इस समय इनके विशेष कुछ कृत्य नहीं हैं, तो भी उत्सवादि के विशेष विशेष अवसर पर उनकी सहायता निहायत जरूरी होती है। इन शबर सेवकों के सिवा अन्यान्य साधारण शबरों का इस मन्दिर में प्रवेश निषिद्ध है। इस

समय पुरी का जगन्नाथ-मन्दिर सवर्ण हिन्दुओं का ही स्थान हो गया है। यद्यपि कहा जाता है कि जगन्नाथ में अन्न-जल के स्पर्श का विचार नहीं है, तो भी वहाँ पाणकखडा प्रभृति हीन जातियों को प्रवेश नहीं करने दिया जाता। इन सब अन्त्यजों के लिये हम लोगों ने ऐसे अनेक मन्दिरों के द्वार बन्द कर दिये हैं, जिनकी पूजा-अर्चना आदि हमने उन्हीं से ग्रहण की थी, सो भी अनेक विरुद्धताओं के भीतर से। जो लोग इन पूजाओं के प्रवर्तक थे, उन्हीं के लिए आज उन्हीं पूजा-मन्दिरों में प्रवेश का अधिकार नहीं है!

थर्स्टन साहब कहते हैं कि जगन्नाथ के मन्दिर में नाइयों को भी समय-समय पर देव-पूजा के कार्य में सहायता करनी होती है। तमिल देश के कितने ही अत्यन्त निष्ठावान् शुद्धाचारी शैव मन्दिरों में भी पारिया लोग ही विशेष-विशेष वात्सरिक उत्सवों के अवसर पर साम-यिक भाव से प्रभुत्व करते हैं (Ghurye, Caste and Race in India, PP. 26-27 Baihes, PP. 75-76)। दक्षिण-कर्णाट (कर्नाटक) में केलसी या नापित-जाति शूद्रों के किसी-किसी अनुष्ठान में पौरोहित्य का कार्य करती है (Thurston. Vol. III P. 269)।

दक्षिण में वैष्णवों और शैवों में बहुत-से प्राचीन भक्त अन्त्यज और शूद्र जाति के हैं। आचारी वैष्णवाचार्यों के बहुत-से आदि-गुरु हीन कही जानेवाली नाना जातियों से उत्पन्न हुये थे। सातानी लोग ऐसे ही हीन शूद्र हैं, जो वैष्णव मन्दिरों के सेवक हैं। सातानी मूल शब्द है सात्तादवन अर्थात् शिखा-सूत्र-विहीन। ये लोग संस्कृत शास्त्र की अपेक्षा बारह वैष्णव भक्तों या आलवारों के ग्रन्थ 'नालायिरा-प्रबन्धम्' को प्रमाण मानते हैं। रामानुज ने मन्दिर के कार्य में सात्ति-नवनों और सात्तादवनों को नियुक्त किया था। सात्तिनवन ब्राह्मण हैं और सात्तादवन शूद्र (Mysore Tribes and Castes, Vol. IV, P. 591)

इन सब विष्णु-मन्दिरों में जिन ब्राह्मणों ने शुरू-शुरू में प्रवेश

किया था, वे भी समाज में प्रतिष्ठा खो चुके हैं। मारक लोग वैष्णव मंदिर के सेवक हैं। यद्यपि वे पहले ब्राह्मण थे; पर अब समाज में उनके ब्राह्मणत्व का दावा अस्वीकृत हो चुका है (वही Vol. II, P. 310) शिव और विष्णु की आराधना में अति नीच जाति को अधिकार है। सन् १४१५ ई० में मध्य-भारत में एक मोची सज्जन ने विष्णु-मन्दिर निर्माण कराया था (Epigraphica Indica. Vol. II, P. 229; Ghurye, P. 99)

शिव के सम्बन्ध में भी यही बात पहले दिखाई जा चुकी है। वेदाचार के साथ बड़ी लड़ाई लड़ने के बाद शैव धर्म आर्यों के भीतर प्रवेश पाने में समर्थ हो सका था। शिव-मन्दिर के पूजक तपोधनगण गुजरात में सामाजिक भाव से अत्यंत हीन समझे जाते हैं (Wilson's Indian Caste, Vol. II, P. 122)। दक्षिण-देश में शिव-नामी या शिवाराध्यगण शिव-मन्दिर के पुजारी होने के कारण ब्राह्मण होकर भी समाज में अचल हैं। अन्यान्य ब्राह्मण लोग उनके साथ कार्य नहीं करते (Mysore Tribes and Castes, Vol. II, P. 318)। शिवध्वजगण स्मार्त्त-सम्प्रदाय के शिव मन्दिर के पुजारी हैं। वे भी समाज में हीन हो गये हैं। मद्रास प्रान्त में इन्हें गुरुक्कल कहते हैं। ये लोग ब्राह्मणत्व से भ्रष्ट हो चुके हैं। किन्तु कोचीन त्रिवां-कुर में शिव के पुजारियों की अवस्था इतनी शोचनीय नहीं हो गई है। देवांग लोग भी शिवपूजक शैव हैं। ये भी ब्राह्मणत्व का दावा करते हैं; पर इनका दावा भी नामंजूर हो चुका है। अपने यजन-याजन ये स्वयं करते हैं। इनकी प्रधान जीविका कपड़ा बुनना है। (वही, Vol. III, P. 137)।

मुस्साद लोग पहले ब्राह्मण थे। द्वापर में शिवनिर्माल्य या शिव का प्रसाद खाने से वे पतित हुए थे। (Thurston, Vol. E, PP. 120-122)। इनके आचार-विचार विशुद्ध नम्बूद्री ब्राह्मणों के-से हैं। संस्कृत शास्त्र में ये गंभीर पाण्डित्य प्राप्त करते हैं (वही पृ० १२२-

१२३)। शिव-निर्माल्य का एक और सुन्दर व्यवहार तुलुव लोगों के देश में है। कोई स्त्री यदि सांसारिक निर्यातन से या अन्य किसी कारण से संसार के बन्धन से मुक्त होना चाहे, तो वह शिव-मन्दिर में जाकर प्रसाद खाती है। इससे उसके सभी सांसारिक बन्धन टूट जाते हैं। यदि ऐसी स्त्री बाद में ब्याह करे, तो उसकी सन्तान 'मोयिलि' जाति की होती है। उनकी सामाजिक अवस्था हीन है (Thurston Vol, V, P. 81; Mysore Tribes and Castes, Vol. I, P. 218)। मलनद तालुका में शिव का निर्माल्य ग्रहण करके स्त्रियाँ भव-बन्धन से मुक्त हो सकती हैं। इनकी सन्तानों की जाति 'मालेरु' कहलाती हैं (Mysore Tribes and Castes, Vol. IV, P. 185)।

चिदम्बरम् महातीर्थ के नटराज-मन्दिर में प्रवेश करते ही प्रथम मूर्ति भक्तवर नन्दनार की है। वे अस्पृश्य पारिया-जाति में उत्पन्न हुए थे; किन्तु आजकल उनके गान न होने से ब्राह्मणों का भी कोई अनुष्ठान पूर्ण नहीं होता।

शास्त्रानुसार ग्राम-देवता की पूजा निषिद्ध है। अर्थात् ग्राम-देवता और देवियों के पूजक ब्राह्मण पतित होते हैं। मनु ने नाना स्थानों पर (३. १५२; ३. १८०) उन्हें पतित कहा है।

इन सब अनार्य देवताओं को ब्राह्मणों ने बहुत दिन तक शूद्रों के देवता समझकर पूजनीय नहीं माना। अवश्य ही आजकल इन देवताओं का पौरोहित्य ग्रहण करके ब्राह्मणों ने इनके वास्तविक पुजारियों का अधिकार लोप कर दिया है। राढ़ देश अब्राह्मण देवता धर्मराज के मंदिर में प्रायः शूद्र और अन्त्यज लोग ही पुरोहित होते हैं। इसी बीच अनेक धर्म-मन्दिरों में ब्राह्मणों का पौरोहित्य स्थापित हो चुका है। ऐसे कई मन्दिर हैं, जहाँ के आदि पूजक शूद्र ही थे; पर अब उनका प्रवेश निषिद्धि हो गया है। शूद्र-देवता के प्रति ब्राह्मणों की वितृष्णा अब भी बहुत-कुछ देखी जाती है। शूद्र के प्रतिष्ठित शिव

या विष्णु ब्राह्मणों के नमस्य नहीं होते, इसलिये बंगाल में शूद्र लोक प्रायः गुरु या पुरोहित से ही देव-प्रतिष्ठा कराते हैं (Bhattacharya, P. 19-20)। यह वही प्राचीन काल के अनार्य देवताओं के प्रति ब्राह्मणों के विद्वेष का भग्नावशेष है। पुराणों की मुनियों द्वारा की हुई शिव-विरोधिता और भृगु मुनि द्वारा विष्णु के वक्षःस्थल में लात मारनेवाली कथा की याद आती है आश्चर्य यह है कि इन्हीं देवताओं के प्रति आज लोगों के भय और भक्ति का अन्त नहीं है! शालिग्राम-शिला ने आज वैदिक अग्नि के पार्श्व में स्थान पाया है!

वैदिक आर्यों के मिलन का स्थान यज्ञ था और अवैदिकों का तीर्थ। यह तीर्थ वस्तु ही वेदबाह्य है, इसीलिये वेद-विरोधी मत को तैर्थिक मत कहते हैं (कारण्ड-व्यूह है, ११. ६२)। वैदिक सभ्यता का केन्द्र और प्रचार-स्थल यज्ञ था और अवैदिक सभ्यता का केन्द्र और प्रचार-स्थल तीर्थ। तीर्थ अर्थात् नदी का तरण-योग्य स्थान। नदी की पवित्रता आर्य-पूर्व वस्तु है। अब भी भाषा-तत्वज्ञों ने लक्ष्य किया है कि गंगा प्रभृति नाम और इनका महात्म्य आर्य-पूर्व वस्तु है। संथाल प्रभृति आदिम जातियाँ नदियों और वृक्षों की पूजक हैं। दामोदर नदी में अस्थि नहीं रखने से संथालों की गति नहीं होती। यह नदी की पूजा या नदी में अस्थि-निक्षेप—ये सब बातें वेद में तो नहीं मिलतीं तो फिर ये बातें आईं कहाँ से? जिन देवताओं से सम्बद्ध माने जाकर तुलसी, वट, अश्वत्थ (पीपल), विल्व (बेल) इत्यादि वृक्ष पवित्र माने गये हैं, उन देवताओं का आदिम परिचय वेद-विरुद्ध 'देवता' के रूप में ही मिलता है। धीरे-धीरे वृक्षों की पूजा भी निश्चय ही आर्यों ने आर्य-पूर्व भारतीयों से ग्रहण की होगी। बहुत सम्भव है, नदी की पूजा भी उन्होंने वहीं से ग्रहण की हो। बहुत-से अनार्य कुलदेवताओं और कुलों के नाम वृक्ष-वाचक हैं। थर्स्टन-लिखित 'Castes and Tribes of Southern India' नामक पुस्तक के सात खंडों में इस बात के अनेकानेक प्रमाण प्राप्त होंगे।

प्रथम खंड में ही Abavi, Addaku, Agaru (पान), Akula (पान), Akshatala (चावल), Allam (अदरख), Ambojala (कमल), Allikulam (कुमुद), Anapa Arashina (हल्दी), Arati (कला), Arli (पीपल), Athithi और Asari (गूलर), Aviri (नील), Avisa, Banmi (शमी), Belala या Belu (कपिथ), Bende, Bevina (नीम), Belpatri (बेल) इत्यादि प्रायः २२ जातियों और कुलों के नाम हैं। ये लोग इन वृक्षों का कोई अपमान कभी सहन नहीं कर सकते। दूसरे खण्ड में ऐसे बीस नाम हैं। विस्तार-भय से उन्हें अलग से नहीं दिखाया गया। तृतीय खण्ड में दस, चतुर्थ खण्ड में तीन, पञ्चम में चौदह, षष्ठ में तेरह और सप्तम में सत्रह इसी प्रकार के वृक्षवाचक कुलनाम हैं। सब मिलाकर प्रायः एक सौ ऐसे नाम मिलते हैं। इनमें आम या Mamimadla (Vol. IV, P. 444) है, नारिकेल (Vol. V. P. 248) है, बरगद या Raghmdla (Vol. VI P. 238) है और तुलसी (Vol. III. P. 205) है।

नाना जन्तुओं के नाम पर भी भिन्न जाति या कुलों के नाम हैं। दूसरे प्रसंग पर जन्तुओं का नाम दिया जायगा।

बहुत से उत्सव भी अनार्यों से प्राप्त हैं जैसे होली या वसन्तोत्सव। इसमें नाना प्रकार की अश्राव्य गालियाँ, जुआ खेलना, नशा पीना आदि उन्मत्त व्यवहार प्रचलित हैं। इनका प्रचलन भी नीची श्रेणियों में ही अधिक है। इसीलिये बहुत लोग इसे शूद्रोत्सव कहते हैं। होलिकादहन के लिए जो आग जलाई जाती है, वह अनेक स्थानों पर अन्त्यज के घर से मँगाई जाती है। बरार के कुनबियों को अस्पृश्य महारों के यहाँ से होली की आग ले आनी पड़ती है (Russel, Vol. IV 18-31 Ghurye; P. 26) कहते हैं, होलाका नामक राक्षसी के तृप्ति के लिए इस दिन अश्लील गालियाँ सुनाई जाती है। कृष्ण

के हाथों यह राक्षसी मारी गई थी। मरने के पहले वह कह गई थी कि इसी प्रकार लोग उसकी प्रेतात्मा का प्रीति-विधान करें।

इस तरह स्पष्ट हो जाता है कि हमारे बहुतेरे देवता, तीर्थ और उत्सव अनार्यों से प्राप्त हैं। खोज करने पर देखा जायगा कि आर्यों के अनेक उपकरण भी आर्य-पूर्व जातियों से गृहीत हैं। इस समय विवाहादि के अवसर पर सिन्दूर एक अपरिहार्य पदार्थ है, इसके बिना विवाह पूर्ण ही नहीं होता; किन्तु सुरेन्द्रमोहन भट्टाचार्य के पुरोहित-दर्पण (अष्टम संस्करण) के कई स्थान उलट कर देखने से ही पता चल जायगा कि यह सिन्दूर का आचार भी आर्यों ने किसी आर्येतर जाति से ही ग्रहण किया था। सिन्दूर का न तो कोई वैदिक नाम है और न सिन्दूर-दान का कोई मन्त्र। सामवेदीय घट-स्थापन में सिंदूर को स्पर्श करके जो मंत्र पढ़ा जाता है, वह—'ॐ सिन्धोरुच्छ्वासे पतयन्तम्' इत्यादि (पृ० ८)। यजुर्वेदी घट-स्थापन में—'ॐसिन्धोरिव प्राध्वने शूघनसो' इत्यादि (पृ० १०) और विवाह में सामवेदी अधिवास का मन्त्र इस प्रकार है—'ॐ सिन्धोरुच्छ्वासे पतयन्तमुक्षितम् इत्यादि (पृ० ७०)। इन तीनों में प्रथम और तृतीय मंत्र ऋग्वेद ७.४६.४३ में पाया जाता है। वहाँ सिन्धु नदी के उच्छ्वास का प्रसंग है। केवल शब्द-साम-मात्र से वह सिन्दूर के मंत्र के रूप में व्यवहृत हुआ है। द्वितीय मंत्र ऋग्वेद ४.५८.७ वाँ मंत्र है। इसके साथ भी सिन्दूर का कोई सम्बन्ध नहीं है।

सामवेदी अधिवास मंत्र में स्वस्तिक, शंख, रोचन, श्वेत सर्षप, रौप्य, ताम्र, चामर, दर्पण के जो मंत्र हैं (७०-७१ पृ०), वे यद्यपि वैदिक मंत्र हैं, फिर भी इन पदार्थों के साथ उनका कोई योग नहीं है। सिंदूर मूलतः नाग लोगों की वस्तु है, उसका नाम भी नागगर्भ और नागसम्भव है। शंख और कंबु आदि नाम भी वेद-बाह्य हैं।

बहुत लोगों की धारणा है कि हमारी 'पूजा' नामक क्रिया भी

वेदबाह्य है। वेद में यह शब्द भी नहीं है। इसका मूल अवैदिक भाषाओं में मिलता है।

भक्ति भी, कहते हैं, अवैदिक है। पद्मपुराण के उत्तरखण्ड में एक सुन्दर कथा है। भक्ति अपना दुखड़ा नारद मुनि से रोते समय कहती है कि मेरा जन्म द्राविड़ देश में हुआ, कर्नाट देश में मैं बड़ी हुई, महाराष्ट्र देश में किंचित् काल वास किया और गुजरात में जीर्ण हो गई :—

उत्पन्ना द्राविड़े चाहं कर्णाटे वृद्धिमागता।
स्थिता किंचिन्महाराष्ट्रे गुर्ज्जरे जीर्णतांगता।

मध्य-युग के भक्त लोग भी कहते हैं कि भक्ति द्राविड़ देश में उत्पन्न हुई थी और रामानन्द उसे उत्तर-भारत में ले आये थे :—

भक्ति द्राविड़ उपजी लाये रामानन्द।

नृत्य, गीत आदि बहुत-सी और बातें भी इसमें आकर आर्यों ने संग्रह कीं, यद्यपि पहले भी इन बातों का कुछ-न-कुछ उनके पास था; किन्तु उसकी समृद्धि यहीं हुई थी। मोटे तौर पर हम कह सकते हैं कि भारतीय आर्यों ने अच्छी-बुरी बहुत-सी बातों को इस देश में आने के बाद संग्रह किया था। जाति-भेद उन्हीं में से एक है।

सिर्फ यही नहीं, और भी ऐसी अनेक बातें आर्यों ने यहाँ से ली थीं, जो पहले उनके समाज में नहीं चलती थीं। बहुत सम्भव है, शुरू-शुरू में समाज में प्रविष्ट होने के बाद भी ऐसी बातें बहुत दिनों तक अपना रास्ता ठीक-ठीक नहीं निकाल सकीं होंगी; पर ज्योंही वे थोड़ी प्राचीन हुईं कि उनकी कमजोरियाँ दूर हुईं और सारी सनातनी शक्ति ने उसकी रक्षा का भार अपने ऊपर से ले लिया।

ज्योतिष का प्रचार भारत में याग-यज्ञ के समय निर्णय के लिए था। फलित ज्योतिष बाद में ग्रीक आदिकों के निकट से आया। पहले-पहल इस फलित ज्योतिष का काफी विरोध किया गया था। आज समूचे भारत में फलित ज्योतिष का जयजयकार है। कौन पूछता है कि यह किस विदेश से आया था?

मुसलमानों के साथ सिक्खों की सदा लड़ाई लगी रही, किन्तु उन्हीं से उन्होंने ग्रंथ-पूजा सीखी। कुरान की पूजा के स्थान पर सिखों ने ग्रन्थ साहब की पूजा चलाई। बुतपरस्ती समझकर सब देव-देवियाँ हटाई गई; किन्तु वे यह समझ ही नहीं सके कि ग्रंथ-पूजा भी एक बुतपरस्ती ही है। मुसलमान लोग जिस प्रकार भगवदुपासना के समय सिर खुला नहीं रखते, उसी तरह सिर ढका रखना सिक्खों ने भी उन्हीं से लड़ते-लड़ते यह बात सीखी। आज किसी सिक्ख गुरुद्वारे में कोई अनावृत्त मस्तक होकर नहीं जा सकता।

राजपूतों ने भी मुसलमान बादशाहों के साथ निरन्तर लड़ाई की; परन्तु उन्हीं से प्रतीष्ठा के चिह्न के रूप में पर्दा-प्रथा और अफीम-सेवन सीख लिया। सम्भव है, पहले-पहल उन्होंने इन बातों का विरोध ही किया होगा; पर एक बार 'प्राचीनता' से भूषित होते ही उन्हीं की सन्तानें इनके लिये लड़ने लगीं। एक बार बल प्रयोग से जो लोग अन्य धर्म में दीक्षित होने को बाध्य किये गये थे, उन्हीं के पुत्रादि ने उसी धर्म के लिए अपने आदिम धर्म के विरुद्ध रक्त की नदियाँ बहाई हैं। भाग्य के ऐसे निष्ठुर परिहास इतिहास की दुनिया में प्रायः देखने को मिल जाया करते हैं।

प्राचीन समाज में व्यवहार और उद्देश्य

समाज-व्यवस्था के मूल में साधारणतः एक ऊँचा आदर्श रहा करता है। भारतीय समाज-व्यवस्था के मूल में भी निश्चय ही एक महान् उद्देश्य था। शास्त्रकारों ने स्त्रीत्व का अत्युच्च और महान् आदर्श स्थापित करना चाहा था, इस विषय में भी कोई सन्देह नहीं है। इसीलिये महाभारत में कहा गया है कि स्त्री मनुष्य का अर्द्ध भाग है, स्त्री पति की श्रेष्ठ मित्र है, वह धर्म-अर्थ-काम इस त्रिवर्ग का मूल है (आदि ७४।१)। संसार में यदि स्त्री का सम्मान न हो तो संसार व्यर्थ है (अनु० ४६।५-६, उद्योग ३८।११)। जिस जगह स्त्रियों के मन में दुःख पहुँचता है वहाँ कल्याण नहीं (अनु० ४६।७) इत्यादि।

पतिव्रता और शीलवती के माहात्म्य से सारा हिंदूशास्त्र भरा है, किन्तु स्त्री के प्रति पति के कर्तव्य का भी कम उल्लेख नहीं है। महाभारत से जान पड़ता है कि जब द्रौपदी थक जाती थी तो उनके पतिलोग उनका चरण भी दबा देते थे (वन १४४।२०)। स्त्रियाँ युद्ध में योग देती थीं (सभा १४।५१), सभा-समितियों में उनके लिए आसन निर्दिष्ट होते थे (आदि १३४।११) और हस्तिनापुर कोष की व्यवस्था का भार द्रौपदी पर था (आदि १५६।११)। केवल परिवार में ही नहीं तपश्चर्या में भी नारी का महत्वपूर्ण स्थान था। सत्यवती, गांधारी, कुन्ती, सत्यभामा आदि स्त्रियाँ वृद्धावस्था में वानप्रस्थ व्रत अवलंबन करके तपोनिरत हुई थीं (आदि १२२।१२ ; आश्रम १५।२; १७।२० ; मुषल ७।१४)।

परन्तु यद्यपि शास्त्रकारों का आदर्श बहुत ऊँचा था, पर नाना शास्त्रों और पुराणों में इस आदर्श के व्यवहार संबंधी जो कथाएँ मिलती हैं वह सदा उत्तम ही नहीं होतीं। किसी समय आदर्श और व्यवहार में

निश्चय ही बड़ा व्यवधान पड़ गया होगा, नहीं तो पुराणादि में ऐसी घटनाएँ झूठमूठ ही सन्निविष्ट न होतीं।

गीता में भगवान् से अर्जुन ने कहा है कि स्त्रियों में दोष आने से वर्णसंकर पैदा होते हैं जो सारे कुल को नरक में ले जाते हैं (गीता १।४१-४२)। यह ठीक है और बहुत से लोगों का विश्वास है कि वर्ण शुद्धि की रक्षा के लिए रोटी-बेटी का संयमन आवश्यक है और इसीलिये जातिभेद वर्ण शुद्धि का पोषक है। परन्तु यह समझना कि केवल ऊँचा आदर्श रख देने से ही उस आदर्श का पालन हो जायगा, ठीक नहीं है। आदर्श की मर्यादा नर-नारी के व्यक्तिगत चरित्र पर निर्भर करता है। पुराने ग्रन्थों के देखने से पता चलता है कि वर्ण-शुद्धि सुरक्षित रखने के व्यवहार में शायद कहीं छिद्र भी था।

वैसे तो वैदिक युग में भी, उस समय चरित्रगत विशुद्धता की रक्षा का भरपूर प्रयत्न किया गया था, फिर भी कुछ कुछ नैतिक दुर्बलता का आभास मिल ही जाता है। उन दिनों के समाज में दुर्नीति-परायण पुरुषों और स्त्रियों का अभाव नहीं था। अनुमान किया गया है कि कभी-कभी भ्रातृहीना कन्याओं की दुर्गति यहाँ तक बढ़ जाती थी कि उन्हें वेश्यावृत्ति करनी पड़ती थी (Vedic Index Vol. I, P. 395) अथर्ववेद के सूक्त (१५।१।२) में 'पुश्चली' शब्द का बारम्बार उल्लेख है। इस वेद में (१४।१।३६) 'महानग्नी' या महानग्नी' शब्द का प्रयोग है। फिर बीसवें काण्ड के कुन्ताप सूत्र में इस शब्द का कई बार प्रयोग हुआ है। इसका अर्थ भी वेश्या ही है। वाजसनेयि-संहिता (३०।६) में कुमारी-पुत्र शब्द पाया जाता है, जिसका अर्थ महीधर ने 'कानीन' अर्थात् अविवाहिता का पुत्र किया है। तैत्तिरीय संहिता (३।४।२।१) में भी यह शब्द है और अथर्ववेद में तो लाक्षा के पिता को गाली देने के लिए ही 'कानीन' शब्द का व्यवहार हुआ है (५।५।८)।

इसी प्रकार ऋग्वेद में इसी अर्थ में (४।१६।६) 'अग्रवेय' शब्द

का व्यवहार है। अग्रु अर्थात् अविवाहिता कन्या। पर सायण ने इस शब्द को किसी व्यक्ति विशेष का नाम कहा है। ऋग्वेद में अन्यत्र (४।३०।१६) भी इस शब्द का प्रयोग है। दृष्टान्त के बहाने ऋग्वेद में 'रहसू' शब्द का प्रयोग है जिसका अर्थ करते समय सायण ने कहा है कि रहसू वह स्त्री है जो अज्ञात स्थान में गर्भपात करती है। वाजसनेयि संहिता (२३।३०) में आर्य की उपपत्नी शूद्रा और शूद्र की उपपत्नी आर्या (२३।३१) का भी उल्लेख है।

समाज में इस प्रकार की दुर्गति शायद इसलिये अधिक आ गई थी कि बहुत-सी कन्याओं का विवाह नहीं हो पाता था और घर में ही वे बूढ़ी हो जाती थीं। ऐसी कन्याओं को उन दिनों 'अमाजूर' कहा करते थे। ऋग्वेद में (२।१७।७) ऋषि गृत्समद कहते हैं—अमाजूरिव पित्रोः सचा सती। इस पर सायणाचार्य कहते हैं कि पति न पा सकने के कारण जिस प्रकार अमाजूर कन्या माँ बाप के पास रहकर जीर्ण हो जाती है। काण्व सोमारि ऋषि कहते हैं कि ऐसा हो कि हमें अमाजूर का दुर्भाग्य न भोगना पड़े (ऋग् ८।२। १५)। कक्षीवान् ऋषि की कन्या घोषा चर्म-रोगाक्रान्त होकर अविवाहित भाव से ही पतिगृह में रहती थी, बाद में देवता के प्रसाद से अच्छी होकर पति लाभ करने में समर्थ हो सकी।

उन दिनों ऐसी बहुत-सी स्त्रियाँ थीं जो चञ्चल-स्वभावा थीं। वे उत्सवादि में भीड़ करती थीं, जहाँ गान, नृत्य, सुरा आदि के साथ नाना प्रकार की उच्छृङ्खलताएँ चलती थीं। ऋग्वेद (१।१२४।८) के 'समनगा इव व्राः' इस मंत्र से जान पड़ता है कि स्त्रियाँ समन या उत्सव में जाया करती थीं। इसी वेद में अन्यत्र (४।५८।८) 'समनेव योषाः' से भी ऐसा ही अनुमान होता है। भरद्वाज-पुत्र परयु ऋषि ने कहा है कि धनु की दोनों कोटियाँ 'समनस्था' स्त्रियों की भाँति निरन्तर उद्देश्य सिद्ध कर रही हैं (ऋक् ६ । ७५ । ४)।

इस 'समन' के विषय में अथर्ववेद में और भी स्पष्ट कहा गया है।

वहाँ ऋषि कहते हैं, हे अग्नि, हमारे सौभाग्य से कन्यार्थी पुरुष इस कन्या के पास आवें। वरों के निकट यह कन्या रमणीया (पुष्टा) हो, समनों में यह कन्या बल्गु, (रुचिरा, हृद्या, मधुरा) हो और पति का सहवास पाने का सौभाग्य इसे हो (२। ३६। १) ऋग्वेद में (१०। १६८। २) 'समनं न योषा' इसका अर्थ करते समय सायण कहते हैं "घृष्ट पुरुष के पास कामिनियों की भाँति" (घृष्टं पुरुषं कामिन्य इव)।

ऐसा जान पड़ता है कि समाज के व्यवस्थापक उन दिनों इस प्रकार की दुर्नीति से विचलित हुए थे। वे जानते थे जिस पर विश्वास न किया जाय वह भी विश्वास से अयोग्य ही हो जाता है। इसीलिये उन्होंने नाना भाव से नारी की महिमा घोषित की। पर उससे उन्हें विशेष फल मिलता नहीं दिखा! समस्या बनी रही। फिर उन्होंने दूसरी नीति ग्रहण की। नारी-चरित्र के काले पहलू को उन्होंने वीभत्स और जुगुप्सा-व्यञ्जना भाषा प्रकट किया। ऐसी बातें लिखने में उन्हें सुख नहीं मिला होगा, यह तो मानी हुई बात है। निश्चय ही ऐसा करते समय उनको मानसिक वेदना अत्यन्त चढ़ाव पर रही होगी। तभी तो मनु ने कहा था कि स्त्रियों में कुछ भी संयम नहीं होता, मोहित करके पुरुष को भ्रष्ट करना ही उनका काम है (२। १२३-१२४); इस विषय में उनमें अच्छे बुरे का विचार नहीं है (६। १४); इनके स्वभाव में ही कुछ ऐसा चाञ्चल्य है कि हजार तरह से रक्षा करने से भी कोई फल नहीं होता (६। १५); श्रुति और स्मृति में इनकी चरित्रहीनता प्रसिद्ध है (६। १६) इत्यादि। इसी नवम अध्याय में मनु भगवान् ने और भी कहा है कि स्त्रियाँ ऐसी हीन और अपदार्थ हैं कि वेद और मंत्र में भी उन्हें अधिकार नहीं है (६।१८)। इसीलिये कभी भी स्त्री को स्वाधीन नहीं रहने देना चाहिये। सदैव वे पिता के, पुत्र के, या पति के आधीन रहें (६।३) वशिष्ठसंहिता (अ० ५) का भी यही मत है। हालांकि साथ ही मनु ने कहा है (६।१५) कि किसी प्रकार के शासन से कोई फल नहीं मिलने का!

एक ओर तो यह कहा गया है फिर दूसरी ओर प्राचीन काल में जो शिक्षा-दीक्षा पाकर ये स्वयं पति वरण करती थीं उस प्रथा को उठाकर आठ-नौ वर्ष की कच्ची उमर में विवाह देने की व्यवस्था की गई। यदि किसी प्रकार की रक्षा कारगर नहीं ही होती है तो क्यों उन्हें शिक्षित और सुसंस्कृत होने का अवसर नहीं दिया गया? एक तरफ तो स्त्री की शुद्धि पर ही वर्णशुद्धि निर्भर बताई गई, दूसरी तरफ उन्हें वेद और मंत्र के अधिकार से वञ्चित करके उच्च आदर्श से अपरिचित रखा गया। मजा यह कि इस प्रकार उच्च ज्ञान से वञ्चित रखने का कारण बताया गया कामुकता और स्वाभावगत असंयम जबकि संयम-शिक्षा से उन्हें वञ्चित रखा गया! इन परस्पर विरुद्ध बातों की संगति क्या है?

गोत्र जाति आदि की जन्मगत विशुद्धि पर वर्णाश्रम धर्म प्रतिष्ठित है। अथच इस विशुद्धि की वाहिका नारियों के ऊपर विश्वास नहीं। यदि सब प्रकार की रक्षण-व्यवस्था बेकार ही है तब तो वर्णाश्रम व्यवस्था के मूल में ही घुन लगा हुआ है। गौतम-पुत्र चिरकारी ने तो स्पष्ट ही कहा था—माता के सिवा और कौन जान सकता है कि गर्भ के बालक का असली पिता कौन है[1]?

इसीलिये गरुड़ पुराण (पूर्व खण्ड ११५। ५७) में कहा गया है कि नदी, अग्निहोत्र, भारत और कुल का अनुसंधान नहीं करना चाहिए, करने से दोष से वह हीन हो जाता है[2]।

समाज के व्यवस्थापकों ने वंश-रक्षा की इतनी बड़ी व्यवस्था इसलिये की थी कि आर्यों की संख्या कम न हो जाय। इसीलिये

---

[1] माता जानाति यद् गोत्रं माता जानाति यस्य सः।
(शान्तिपर्व, २६५। ३५)

[2] नदीनामग्निहोत्राणां भारतानां कुलस्य च।
मूलान्वेषो न कर्त्तव्यो मूलदोषेण हीयते॥

६

ज़रूरत पड़ने पर देवर से नियोग करके गर्भाधान कराने की व्यवस्था की गई थी। ऐसा जान पड़ता है कि यह प्रथा भी आगे चलकर आदर्श के विरुद्ध पड़ गई होगी। स्त्रियाँ पति के अभाव में देवर को पति रूप में स्वीकार कर लेती थीं[1]।

शायद इस आदर्शगत विरोध के कारण ही कलिकाल में देवर से पुत्रोत्पत्ति का निषेध किया गया था (पराशर०)।

सभी कारण तो मालूम नहीं, पर पौराणिक कथाओं से जान पड़ता है कि उस युग में आदर्श और व्यवहार का व्यवधान बहुत अधिक बढ़ गया था। शायद ही कोई पुराण हो जिससे हमारी बात का समर्थन न हो जाय। स्वयं महाभारत (अनु० ३८-४० अध्याय) भी ऐसी भयंकर असंयम की बात कहता है। अवश्य ही ये बातें चरित्रहीना पंचचूड़ा की हैं। फिर भी महाभारत में उन्हें स्थान तो मिला ही है। शिवपुराण (धर्मसंहिता ४३ अध्याय) में भी सनत्कुमार ने व्यास जी से पंचचूड़ा कथित स्त्री स्वभाव की बातें कही हैं। इन दोनों ग्रन्थों में कही हुई बातें ऐसी हैं कि उनका अनुवाद देना असंभव है। वराहपुराण (१७७ अध्याय) में भी श्रीकृष्ण नारद को यही बातें बताते हैं।

शिवपुराण में केवल पंचचूड़ा की बात कहकर ही स्त्री-स्वभाव की दुष्टता का प्रसंग समाप्त नहीं कर दिया गया है। आगे ४४वें अध्याय में स्त्री-स्वभाव के सम्बन्ध में सती-शिरोमणि अरुन्धती के मुख से भी वैसी ही बातें कहवाई गई हैं।

स्कंदपुराण (धर्मारण्य ३।८१-८७) में स्त्रियों को केवल पुरुष को मोहित करनेवाली बताया गया है और नागरखण्ड (८१,३२-३७) में उनको चरित्र रक्षा करने में असमर्थ समझा गया है। महाभारत में भी कहीं-कहीं ऐसी उक्तियाँ मिलती हैं कि बहुपुरुष-युक्ता होना

---

[1] नारी तु पत्यभावे वै देवरं कुरुते पतिम्। (अनु० ८।२२)

ही स्त्रियों की कामना है (आदि २०२।८), वे कभी विश्वास योग्य नहीं हैं (उद्योग० ३७।५७, द्रोण० २।८४२, आदि० २३३।३७)।

यदुवंश के ध्वंस होने के बाद शोकार्त्त यदु-रमणियों को लेकर अर्जुन जा रहे थे कि बीच में आभीर दस्युओं ने आक्रमण किया। यह आश्चर्य की ही बात है कि उस प्रकार शोकार्त्ता होने पर भी स्त्रियाँ कामार्त्ता होकर दस्युओं के साथ चली गईं (मुषल ७।५६)।

ब्रह्मवैवर्त पुराण के श्रीकृष्णखंड में गोपियों के साथ भगवान् की लीलाएँ चाहे जैसी भी हों, भक्त लोग उसे लीला ही मान लेंगे पर वहीं स्त्रियों के सम्बन्ध में साधारण भाव से जो कुछ कहा गया है वह बहुत अश्लील है। (१७२ श्लोक)[1]।

समाज की नैतिक अधोगति का अनुमान पद्मपुराण (उत्तर २१३।८।१३) की उस पत्नी-भक्त पति की व्यभिचारिणी पत्नी की कथा से चलता है जिससे जार-रति की निंदा सुनकर पति ने जहर खाकर प्राण दे दिये थे और उस पत्नी ने अपने मित्रों के परामर्श से अपने शिशु सन्तान को पालन करने के बहाने अपना प्राण धारण किया था। इसकी सखियाँ भी ऐसी ही थीं। इसका पुत्र बाद में उपनीत होकर परम नारायण भक्त हो गया था। इस पुराण में एक ऐसे

---

[1] अनुसन्धित्सु पाठक पुराणों के निम्नलिखित अंशों को इस प्रसंग में देख सकते हैं। इसमें से कुछ तो इतने अधिक अश्लील हैं (जैसे पद्मपुराण के पातालखंडवाला) कि कई निष्ठावान् सनातनी अनुवादकों ने भी उनको अननुवादित रहने देना ही उचित समझा है—नारी तप्तांगार और पुरुष घृतकुण्ड,—लिंगपुराण (पूर्वभाग ८।२३); बृहद्धर्मपुराण (उत्तरखण्ड ५।३)। अश्लील आचरण, गरुड़पुराण (पूर्वखंड, १०९ अध्याय); वामनपुराण ४३३ अध्याय; अग्निपुराण २२४।३; गरुड़पुराण (पाताल० ६८।१७-३२ और ६५।१३-२२); पद्मपुराण (उत्तरखण्ड १२८।९६-९८, १०५-१०६)।

ब्राह्मण की कथा भी है जो गर्भपात की दवा दिया करता था। भ्रूणहत्या उन दिनों खूब प्रचलित थी। यही कारण है कि शास्त्रों में इस अपकर्म के प्रायश्चित का विधान है।

शायद कभी एक ऐसा समय आया था जब कि इस विषय में लोकमत भी बहुत ढीला हो गया था। स्कंदपुराण में एक विधवा के पुत्र-जन्म की कथा है। बताया गया है कि देवता के वर से अपने मृत पति का संग वह पा सकी थी (ब्रह्मखंड, उत्तरखंड १६ अध्याय)। देवता का वर चाहे जो कुछ भी रहा हो उसका पुत्र समाज में अचल नहीं रहा। यथासमय उसका उपनयन हुआ और वह समस्त विद्याओं में पारंगत तथा समस्त वेदों का ज्ञाता हुआ (वही ७६-७८)।

जातिभेद और वंशशुद्धि

एक प्रकार के शिक्षित लोगों का कथन है कि जातिभेद से वंश-शुद्धि या Ethnic Purity ठीक रहती है। पर हिन्दू जाति को वंश (Ethnic) दृष्टि से जिन्होंने अध्ययन किया है उन पंडितों का मत इस विषय में बहुत आशाजनक नहीं है। उदाहरण के लिए बंगाल के द्विजों अर्थात् ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यों में आर्य, द्रविड़, मंगोल सभी प्रकार के रक्त हैं। जाति की विशुद्धि एक ऐसी प्राकृतिक अन्ध शक्ति पर निर्भर करती है जिसके निकट मनुष्य सदा हार मानता आया है।

पुराने जमाने में नौकरी और व्यवसाय के सिलसिले में पुरुष बाहर जाया करते थे। स्त्रियों को साथ ले जाना सब समय सुरक्षित भी नहीं था और प्रचलित भी नहीं था। यातायात के साधन भी नहीं थे। फलतः पुरुषों का चरित्र सदा शुद्ध नहीं रहता था स्त्रियाँ जो घर पर रहा करती थीं, वियोगावस्था में दिन काटती थीं। ऐसी प्रोषित-पतिकाओं की विरहकथा से भारतीय साहित्य भरा है। ये पुरुषों की अपेक्षा निश्चय ही अधिक पवित्र रहती थीं पर इस बात के प्रमाण विरल नहीं हैं जिनसे स्त्रियों के ऊपर भी अनिश्चित प्रतीक्षा की प्रति-क्रिया का पड़ना सिद्ध होता है।

गुजरात के खेड़ावाड़ ब्राह्मणों का काम दोना-पत्तल आदि बनाना है। ये कार्यवश विदेश में रहते हैं पर इनमें अब भी परिवार का साथ ले जाना उतना प्रचलित नहीं हुआ। सिंध के भाई-बंद सम्प्रदाय वाले सारे दुनिया में व्यवसाय करते हैं पर साथ में स्त्रियों को नहीं ले जा सकते। हाल ही में सिंध में जो ओ३म् मण्डली की दु:खद घटना हो गई उसके लिए, कौन कह सकता है कि, इस प्रकार

परिवार को साथ न ले जाने देने का सामाजिक नियम उत्तरदायी नहीं है ? भारतवर्ष के सभी प्रदेशों में इस प्रकार अपरिवृत भाव से प्रवास करने के नियम किसी-न-किसी मात्रा में मौजूद हैं ही। बंगाल में जो कौलीन्य प्रथा प्रचलित थी उसके कारण एक ही कुलीन पुरुष के कई-कई विवाह होते थे जब कि अधिकांश वंशज (अकुलीन) पुरुष अविवाहित ही रह जाते थे। इसका परिणाम जो विषमय नहीं ही हुआ था, इसका कोई सबूत है ? जहाँ ऐसे और ऐसे अन्य अनेकों सामाजिक नियम चलते हों वहाँ जाति-गत शुद्धि की आशा बहुत अधिक नहीं हो सकती।

आजकल समाज के मुखिया लोग नियमों के कारण घटी हुई दुर्घटनाओं के लिए अधिकांशतः स्त्रियों को ही जवाबदेह बनाते हैं। पुरुष प्रायः ही छूट पा जाते हैं। बल्कि पुराने जमाने में शास्त्रकार स्त्रियों को दोषी नहीं ठहराते थे। उन्होंने यह तो मान ही लिया था कि यदि स्त्री स्वेच्छा से कुपथगामी नहीं होती, बलात्कार से होती है तब तो वह निर्दोष है ही। वह त्याज्य तो एकदम नहीं है। अत्रि मुनि ने कहा है कि यदि स्त्री गलती से, प्रवंचित होकर बलात्कार द्वारा या प्रच्छन्न भाव से दूषित हो तो मान लेना होगा कि वह स्वेच्छा से कुपथगामिनी नहीं हुई। ऐसी अवस्था में वह त्याज्य नहीं है। ऋतु-कालीनस्राव से ही वह शुद्ध हो जाती है (अत्रिसंहिता, १९७-१९८) विधर्मी द्वारा एक बार परिभ्रष्ट स्त्री प्राजपत्य व्रत से और ऋतुस्नान से शुद्ध हो जाती है (वही २०१-२०२) देवलस्मृति बलात्कृता स्त्री को तभी अशुद्ध मानती है जब कि उसे गर्भ रह जाय अन्यथा वह तीन रात में शुद्ध हो जाती है (४७)। किन्तु इच्छा-पूर्वक या अनिच्छा पूर्वक विधर्मी से गर्भ रह ही जाये तो भी कच्छ सान्तपन और घृतसेक से स्त्री की शुद्धि हो जाती है (४८-४९)। सान्तपन व्रत की बात मनु में (१०।२१३) भी है। अनिच्छा पूर्वक दूषिता स्त्री की निर्दोषिता के वियष में तो अत्रि, वसिष्ठ, पराशर, देवल सबका एक ही मत है।

इस विषय में मत्स्यपुराण का कथन है अनिच्छा-पूर्वक दूषिता नारी दण्डाई नहीं है, दूषक पुरुष दण्डाई है (२२१।१२८)। अग्निपुराण का भी यही मत है। यहीं नहीं, अग्निपुराण का कहना है कि ऋतु-मती होते ही स्त्री शुद्ध हो जाती है (१६५।६-७), स्त्री की सभी शारीरिक दुर्नीति ऋतुस्नान से शुद्ध हो जाती है। स्कंदपुराण में भी कहा है कि स्रोत से नदी और ऋतुस्राव से स्त्री शुद्ध होती है। निरपराधा अन्योपभुक्ता स्त्री को त्यागना नहीं चाहिए (काशी० ४०।-३७-४८)। ब्रह्मवैवर्त पुराण का भी यही मत है (२।४५।१०६; ४।५१।५३) पर साथ ही यह भी कहा गया है कि स्त्री की भी सम्मति हो तो वह भी दोषी होती है (४।४७।४०)। इस विषय में शास्त्रकारों का कथन युक्तियुक्त ही है किन्तु वंशगत विशुद्धि की रक्षा इससे नहीं हो सकती।

महाभारत के शान्तिपर्व में गौतम के पुत्र चिरकारी की कथा है। एक बार अपनी पत्नी को व्यभिचारलिप्ता देखकर उन्होंने पुत्र से उसको मार डालने को कहा। पुत्र ने यह सोचकर कि पति ही जब स्त्री का रक्षक है तो उसके चरित्र-भ्रंश का दोष भी रक्षक का ही है, स्त्री का नहीं (२६५।४०), माता को मार नहीं डाला। बाद में गौतम को अपनी 'साध्वी पत्नी को इस प्रकार मार डालने के आदेश से बड़ा कष्ट हुआ। पर तपःस्थान से लौटकर जब देखा कि पत्नी मार नहीं डाली गई तो सन्तुष्ट ही हुए। गौतम की पत्नी ही अहल्या थीं। अहल्या की कहानी नाना स्थानों में नाना भाव से वर्णित है। पर यहाँ (महाभारत में) जिस प्रकार कही गयी है वही अधिक संगत जान पड़ती है। यहाँ न तो अहल्या के पत्थर होने का अभिशाप है न राम के चरण स्पर्श से पुनर्जीवन-लाभ। गौतम ने यहाँ बाद में ठीक ही समझा है कि राग, दर्प, मान, द्रोह, पाप और अप्रिय कार्य में देर से (धैर्यपूर्वक) काम करनेवाला (=चिरकारी) ही प्रशस्त है और बंधु, सुहृद, भृत्य और स्त्री के अव्यक्त अपराध के

मामलों में (सोच-समझकर धैर्यपूर्वक) देर से काम करनेवाले ही प्रशस्त है[1] — चिरकारी यहाँ कहते हैं कि स्त्री अपराध नहीं करती, अपराध पुरुष करता है (वही ४०)। फिर सन्तान के लिए माता ही गुरु है, पिता नहीं; क्योंकि असल में तो माता ही जानती है कि सन्तान का असली पिता कौन है और उसका गोत्र क्या है (वही ३५)।

उन दिनों भी समाज में असत्पुरुषों की कमी नहीं थी जो पतिहीना स्त्रियों पर गिद्ध की भाँति आँख लगाये रहते थे।[2] समाज में गुण्डों की भी कमी नहीं थी। उनसे स्त्रियों को बचाना ज़रूरी समझा जाता था[3]। फिर कन्यादूषक राक्षस वर्ग के लोग तो थे ही। उनसे कन्याओं की रक्षा करना उन दिनों की एक समस्या थी।

इस प्रकार उन दिनों में युवक-युवती समस्या कम नहीं थी। तथापि सभी क्षेत्रों में चतुराश्रम-स्थापन, सदाचार, तप, धर्म आदि की महिमा का कीर्तन आदि के द्वारा समाज के नेता उसे उच्चतर आदर्श की ओर ले जाने का प्रयत्न करते रहे। किन्तु यह तो स्पष्ट ही समझ में आ जाता है कि जातिगत विशुद्धता की रक्षा काफी कठिन थी।

---

[1] रागे दर्पे च माने च द्रोहे पापे च कर्मणि।
अप्रिये चैव कर्त्तव्ये चिरकारी प्रशस्यते।
बंधूनां सुहृदां चैव भृत्यानां स्त्रीजनस्य च।
अव्यक्तेष्वपराधेषु चिरकारी प्रशस्यते।
(शान्ति० २६५।७०-७१)

[2] उत्सृष्टमामिषं भूमौ प्रार्थयन्ति यथा खगाः।
प्रार्थयन्ति जनाः सर्वे पतिहीनां तथा स्त्रियम्॥
(आदि० १५८।१२)

[3] अहंकारावलिप्तैश्च प्रार्थ्यमानामिमां सुतां।
अयुक्तैस्तव सम्बन्धे कथं शक्यामि रक्षितुम्॥
(आदि० १५८।११)

वर्णसंकरता

समाज का प्रत्येक व्यक्ति यदि चरित्रवान् और शीलयुक्त हो तभी जाति-शुद्धि और वर्णशुद्धि बचाई जा सकती है। हिन्दू समाज के सुदीर्घ इतिहास से पता चलता है कि यह शुद्धि अव्याहत नहीं रही। समाज में नैतिक दुर्बलता थी और वर्णसंकरता भी इसीलिये बढ़ती गई। ज्यों-ज्यों परवर्ती काल की स्मृतियों और पुराणों में हम आते जाते हैं त्यों-त्यों वर्णसंकर जातियों की तालिका बढ़ती जाती है। फिर सांकर्य को उत्पन्न करनेवाला ऐसा कोई पाप नहीं है जिसका प्रायश्चित धर्मग्रंथों में न बताया गया हो। ये बातें सिद्ध करती हैं कि प्राचीन समाज उतना विशुद्ध नहीं था जितना हम आज श्रद्धातिरेक के कारण समझने लगते हैं।

चरित्रगत शिथिलता में भी यदि उच्चवर्ण के साथ नीचवर्ण की स्त्री का संबंध होता था तो दंड हल्का होता था पर नीचवर्ण के साथ उच्चवर्ण की स्त्री के संबंध में दंड विकराल हुआ करता था। (संवर्त-संहिता, १५२-१५४; १६६-१६८) ब्राह्मणी के साथ गमन करनेवाले शूद्र को आग में फेंक देने का विधान है। ब्राह्मणी को दिया जानेवाला दंड भी कम भयंकर नहीं है (वसिष्ठसंहिता २१ अध्याय)। अत्रि और संवर्त दोनों के ही मत से उच्चवर्ण के पुरुष और नीचवर्ण की स्त्री के संसर्ग में पुरुष अशुचिता और प्रायश्चित्त का ही विधान करते हैं। ऐसा मालूम ही नहीं होता कि नीचवर्ण स्त्री का कुछ नुकसान हुआ हो! वृद्ध हारीत ने ऐसे पुरुषों के प्रायश्चित्त की लम्बी तालिका दी है (नवम अध्याय)। वृहद् यमस्मृति में निम्न-वर्णा स्त्री और सवर्णा स्त्री के साथ व्यभिचार में कम और उच्च वर्ण की स्त्री के साथ व्यभिचार में कठोर प्रायश्चित की बात है (४-३६-४८)।

इसी प्रकार याज्ञवल्क्य संहिता में सवर्ण और निम्नवर्ण के साथ गमन करने की अपेक्षा उच्चवर्ण स्त्री के साथ गमन के लिए कठोर दंड विहित है अर्थात् पुरुष के प्राणदंड का विधान है। ऐसे मौकों पर स्त्री को अवध्य समझकर केवल नाक कान काटने का ही विधान है (२।२८६-२९३)। शातातप स्मृति में अविवाहिता कन्या के साथ गमन को उपपातकों में गिना है (२१)।

परपुरुष के द्वारा परनारी के गर्भ से जो सन्तान उत्पन्न होती है, यदि उसका उत्पादनकारी निर्णीत न हो तो सन्तान को 'गूढ़ोत्पन्न' कहते हैं। मनु ने ऐसी सन्तानों के पितृत्व का अधिकारी उस स्त्री के पति को ही माना है, अन्ततः सामाजिक कानून में वही उसका पिता माना जायगा (९।१७०)। अवैध भाव से जितनी प्रकार की सन्ततियाँ उत्पन्न हो सकती हैं सबकी व्यवस्था मनु ने की है (९।१७१-१८१)। कुमारी और विधवाओं की सन्तानों के विषय में भी स्मृतिकारों को सोचना पड़ा है।

विष्णुसंहिता में पौनर्भव, कानीन, गूढ़ोत्पन्न और सहोढ़ आदि सन्तानों की व्यवस्था कही हुई है। कन्या अर्थात् अविवाहित लड़कियों की सन्तान 'कानीन' कहलाती थी। यह कन्या जिस पुरुष के साथ विवाह करेगी वही इस कानीन सन्तति का भी पिता होगा। जिस सन्तान को साथ लेकर उसकी माँ किसी और पुरुष से विवाह करती है उसे सहोढ़ कहते हैं। इस सन्तान का पिता भी यही विवाहित पुरुष ही समझा जायगा। विवाहित विधवा के पुत्र को पौनर्भव कहते हैं। गूढ़ोत्पन्न का पिता भी जन्मदात्री का विवाहित पति ही होता है (१५।१-१७)। जो सन्तान पिता-माता द्वारा परित्यक्त होता है उसे अपविद्ध कहते हैं। पालन करने वाला ही उसका पिता होता है। धर्मशास्त्रों में इनके उत्तराधिकार और भरणपोषण की भी व्यवस्था है। याज्ञवल्क्य संहिता (२।१३२-१३३) तथा वसिष्ठसंहिता (१७ अध्याय) में भी उक्त चार प्रकार की सन्तानों की बात है। वशिष्ठ

ने 'पुनर्भू' उस विधवा को कहा है जो पुनर्विवाह करती है (वही)।

बौधायन मूढ़ज और अपविद्ध पुत्र को भी रिक्थभाक् या उत्तराधिकारी माना है। कानीन, सहोढ़ और पौनर्भव तथा शूद्रा स्त्री से उत्पन्न सन्तान को निषाद गोत्रभाक् कहा है (२।३।३६-३७)। बौधायन ने इनके नाम संज्ञा आदि के बारे में भी आलोचना की है (२।३।२६-३४)।

इन सब बातों से जान पड़ता है कि उन दिनों समाज में बहुत शैथिल्य था। फिर एक-एक प्रदेश भी चरित्रगत शैथिल्य के कारण विख्यात थे।

कर्णपर्व के ४५वें अध्याय कर्ण मद्रनराधिप शल्य को फटकारते हुए कहते हैं कि एक ब्राह्मण नाना देश पर्यटन करके वाहीक देश में आकर क्या देखता है कि वहाँ का ब्राह्मण पहले क्षत्रिय फिर वैश्य, फिर शूद्र और अन्त में नाई हो जाता है। नाई होकर वह फिर ब्राह्मण हो जाता है और फिर दास (४५।६-७)। क्षत्रिय का मल है भिक्षा, ब्राह्मण का मल व्रतहीनता, पृथ्वी का मल वाहीक और स्त्री जाति का मल हैं मद्रदेश की नारियाँ (२३)। इस देश में जन्म का ठीक ठिकाना नहीं होने से, पुत्र उत्तराधिकारी न होकर भांजे उत्तराधिकारी होते हैं (४५।१३)। यह सुनकर मद्रनरेश ने कहा कि इसमें मद्र का कोई विशेष दोष नहीं है, सभी जगह के पुरुष कामासक्त होते हैं (४३)।

इससे पूर्ववर्ती ४४वें अध्याय में मद्रदेश की बातें और भी साफ भाषा में कही गई हैं। धृतराष्ट्र की सभा में किसी परिव्राजक ब्राह्मण के मुख से कर्ण ने सुना था कि सिंधु और पंचनद प्रदेश के मध्यवर्ती धर्मबाह्य वाहीक हैं जो त्याज्य और हेय हैं। शाकल नामक नगर में और आपगा नदी के देश में जो वाहीक हैं वे अत्यन्त हीन चरित्र के हैं। वहाँ नगरागार में, व्रज में और प्रकाश्य स्थानों में मत्तभाव से माल्य-चंदन धारण करके विवस्त्र होकर हास्य और नृत्य करती हैं (४४।१२)। वे

कामचारी, स्वैरिणी हैं और प्रकाश्य भाव से कामाचरण करती हैं और अश्लील विनोद-वचन उच्चारण करती हैं (४४।२२) । इस धर्महीन देश में नहीं जाना चाहिये । धर्महीन दासमीयों (=दशम देशोद्भव, या शूद्र दासों से उत्पन्न कामिनियों की सन्तानों—नीलकंठी) के या यज्ञहीन वाहीकों के दान को देवता, ब्राह्मण और पितृगण नहीं स्वीकार करते (३३) । वही आरट्ट देश है, उसी का नाम वाहीक है, वहाँ के ब्राह्मण भी चरित्रहीन हैं (४४) ।

केम्पवेलने भी लिखा है कि पंजाब के गांधार ये ब्राह्मणों की रीति-नीति की बहुत निन्दा की बात पाई जाती है । वहाँ के पुरुष अगम्यगामी हैं, और स्त्रियों द्वारा असत्कार्य द्वारा उपार्जित धन से पोषित हैं, नारियाँ लज्जाहीना हैं ; वहाँ के ब्राह्मणों और खत्रियों की कन्याएं भी वैधव्य व्रत पालन करना नहीं चाहतीं इत्यादि (Camp. Vol. I 403, 371) ।

लेकिन केवल वाहीकों की ऐसी दशा रही हो सो बात नहीं है । ऐसा एक युग भी बीता है जिसमें मनुष्यों में वैसी संस्कृति नहीं आ पाई थी । पांडु ने कहा था कि पुराने जमाने में स्त्रियाँ अनियन्त्रित, कामचारिणी, स्वैरिणी और स्वतंत्र थीं । कुमारावस्था से ही एक पुरुष से दूसरी की ओर आसक्त होती थीं । उन्हें कोई पाप नहीं होता था (आदि १२२।४-५) । यही नहीं, पाण्डु जिस समय यह बात कह रहे थे उन दिनों में उत्तर कुरु में यही हाल था (१२२।१) ।

इसी अध्याय में उद्दालक ऋषि की कथा है । उनके पुत्र श्वेतकेतु के सामने ही उनकी पत्नी को कोई ब्राह्मण हाथ पकड़ कर उठा ले गया । श्वेतकेतु के क्रुद्ध होने पर पिता ने समझाया कि इसमें क्रुद्ध होने की कोई बात नहीं है । (१२२।६-१४) पृथ्वी में सभी स्त्रियाँ अनावृता अर्थात् सर्वजननभोग्या और स्वेच्छा-विहारिणी हैं । यही 'सनातन' धर्म है । पर पुत्र ने ऐसे सनातन धर्म को न मानकर नियम कर दिया कि स्त्री पति को अतिक्रम करेगी और जो पति कौमार ब्रह्मचारिणी

भार्या को अतिक्रम करेगा, उन दोनों को भ्रूणहत्या का पाप होगा (१२२।१७-१८)। इन सब अगणित घटनाओं से जाना जाता है कि प्राचीन काल का सब कुछ अच्छा नहीं था। व्यासादि मुनियों, धृतराष्ट्र, पाण्डु आदि तथा युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन आदि की जन्म जैसी घटनाएं आज के समाज में बहुत निन्दित होंगी। पुरातन काल में निश्चय ही बहुत ही श्रद्धेय चरित्रबल, तपोबल, ज्ञान-निष्ठा आदि थीं, पर सभी बातें अच्छी ही थीं ऐसा नहीं कहा जा सकता। कालिदास ने ठीक ही कहा था—पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि सर्वं नवमित्यवद्यम्।

उन दिनों समाज के व्यवस्थापकों को तीन समस्याओं का सामना करना था। चतुर्दिक् का सामाजिक नीति-शैथिल्य, उच्चतर आदर्श और जातिभेद पर प्रतिष्ठित वंशशुद्धि। इस वात्या-विलोड़ित तीन नदियों की आवर्त संकुल त्रिवेणी में से समाज की नौका को सुचारु रूप से खे ले जाना बड़ा कठिन व्यापार था। जाति निर्णीत होती है जन्म से; जन्म शुद्धि के लिए स्त्रियों की पवित्रता नितान्त आवश्यक है और पारिपार्शिवक अवस्थाओं को देखते हुए 'तिरिया-चरित्र' विश्वास-योग्य नहीं ठहरता। ऐसी विषम अवस्था में पड़कर शास्त्रकारों को अनेक बार परस्पर विरोधी उक्तियाँ कहनी पड़ी हैं। उपाय नहीं था। आज भी परम बुद्धिमान वयोवृद्ध पंडितों को ऐसी परस्पर विरुद्ध उक्तियों का आश्रय लेना पड़ता है। आठ वर्ष की कन्या का विवाह कर देने के पक्ष में कहा जाता है कि ऐसा न करने से कन्याओं का धर्म नहीं रहता। वे स्वाभावतः ही चंचल और असंयत हैं। इत्यादि। फिर बाल-विधवा का विवाह न करने के समय वे कहते हैं—हमारे देश की स्त्रियाँ सती साध्वी पतिपरायण होती हैं, उनमें स्वप्न में भी चाञ्चल्य नहीं आता, वे कामुकता से परे हैं इत्यादि!

हमारे इस युग में भी विचार किया जाय तो समाज के नियमों में बहुतसी असंगतियाँ हैं। जिस समाज में पान से चूना खिसकने पर भी

जाति जाती है इसी दक्षिण भारतीय हिंदू समाज में—जो परम सनातनी होने का दावा करता है—कोई स्त्री यदि देवदासी हो जाय तो वह सदा शुद्ध है। ये देवदासियाँ सात प्रकार की होती हैं—(१) दत्ता जो अपने को देवता को समर्पण करे, (२) विक्रीता जो देवता के निकट आत्म विक्रय करती हैं, (३) भृत्या जो कुल कल्याणार्थ देवता को निवेदित की गई है, (४) भक्ता जो भक्तिवश संसार बंधन तोड़कर देवता के चरणों में अपने को उत्सर्ग करती है, (५) हृता, जिसे फुसला-भुलाकर देवता को समर्पण किया गया हो, (अलंकारा, जिसे राजा लोग नृत्यादि से सुशिक्षिता बनाकर मंदिर को समर्पण करते हैं, (७) रुद्रगणिका या गोपिका जो वेतन लेकर देवता के निकट नाच-गान करती हैं (Thurston. II, 125, 153) ये स्त्रियाँ समाज में खूब सम्मानित हैं। युद्ध के समय सैनिकों को खाद्य पहुँचाने के लिए उनकी पत्नियाँ नहीं जा सकती थीं। ये लोग वह काम करती थीं (पृ० १३३)। इसीलिये समय-समय पर नाना उपायों से देवदासियों की संख्या बढ़ानी पड़ती थी। रथ के समय रास्ते में यदि कहीं रथ अटक जाता है तो रथ के सेवक वहाँ से लौट नहीं सकते हैं; ऐसे अवसरों पर देवदासियाँ ही उन्हें आहार पहुँचाती हैं (वही)। विवाह के समय ये चिर सौभाग्यवतियाँ ही कन्या के कंठ में सूत्र बाँध सकती हैं (वही १३६)। इसी कारण से जिन मांगल्य अनुष्ठानों में विधवाएँ नहीं योग दे सकतीं उनमें वेश्या को अधिकार है। बंगाल में भी दुर्गा-पूजा आदि के अवसर पर वेश्या के द्वार की मिट्टी आवश्यक होती है। इस तरह भारतवर्ष में अन्यत्र भी जो वेश्या का सम्मान नहीं है, ऐसी बात नहीं कही जा सकती।

कैकोलान जाति में प्रति परिवार एक कन्या को देवदासी करके दान करने का नियम है (Thurston. III, 37)। कर्नाटक में देवदासियाँ अपने को वेश्या या 'नाइकानी' कहती हैं। देवदासी होने से ही सब दोष खण्डित हो जाता है। वेश्याओं को 'नायिका' कहते हैं

इसलिये उनकी हाव-भाव-भंगी को नाइकानी कहते हैं।

इस प्रकार मंगल-कर्म में वेश्याएँ विहित हैं पर विधवाएँ नहीं। ऐसी असंगतियाँ हमारे समाज में बहुत हैं। इस असंगति का समाधान करते समय शास्त्रकारों ने स्त्री में अशेष प्रकार के दोष गिना कर भी यह कहा है कि देवताओं ने स्त्री को ऐसा पवित्र बनाया है कि वे किसी प्रकार भी अपवित्र नहीं होने की। कहते हैं, पहले स्त्रियों को देवता भोग करते हैं बाद में मनुष्य, इसमें दोष कहाँ है। इसीलिये स्त्री उपपति के संसर्ग से दूषित नहीं होती—न स्त्री दुष्यति जारेण (अत्रि-संहिता, १९३)। सवर्ण की तो कोई बात ही नहीं यदि किसी असवर्ण परापुरुष से भी स्त्री गर्भवती हो तो प्रसव के बाद शुद्ध हो जाती है (वही १९५)। पुनर्वार रजःप्रवृत्ति होते ही स्त्री विमल काञ्चन के समान शुद्ध हो जाती है (वही १९६)। देवलस्मृति का यही मत है (५०-५१)।

अत्रि कहते हैं कि सोम, अग्नि और गन्धर्व देवता स्त्री का उपभोग करते हैं (१९४)। सोम उन्हें पवित्रता, गंधर्व शिक्षित सुन्दर वाणी, और अग्नि सर्वभक्ष्यता देते हैं। इसलिए स्त्रियाँ सदा पवित्र हैं (बौधायन-स्मृति २।२।६३, अत्रि १४०; याज्ञवल्क्य १।७०)। स्त्रियों की पवित्रता अतुलनीय है। कोई उन्हें अपवित्र नहीं कर सकता। प्रति मास का ऋतुस्राव उनका सारा दुरित (पाप) धो देता है (बौधायन २।२।६३)।

स्त्रियों के सम्बन्ध में ये मत केवल ग्रन्थों में लिख कर ही नहीं रख दिये गये हैं। पुराने आख्यानों से इनका पूर्ण समर्थन होता है। ऐसे अनेक आख्यान पहले ही उद्धृत कर दिये गये हैं। इस प्रसंग में गौतम और उनकी पत्नी की कथा फिर से स्मरण की जा सकती है। गौतम अहल्या के अपराध को क्षमा कर सके थे और इसके लिए समाज के निकट उन्हें कैफियत भी नहीं देनी पड़ी थी।

पद्मपुराण के उत्तर खण्ड के १२५ अध्याय में औशीनर शिवि ने

एक मुनि के स्वैरिणी गर्भ से उत्पन्न होने का कारण पूछा। नारद ने बताया कि बृहस्पति की स्त्री तारा के साथ चन्द्रमा का समागम हुआ उसी से बुध उत्पन्न हुए। पहले तो चन्द्रमा ने किसी भी प्रकार से तारा को छोड़ना नहीं चाहा; पर बाद में बृहस्पति ने युद्ध में चन्द्र को परास्त करके गर्भवती तारा का उद्धार किया। बृहस्पति ने उस गर्भ के आधाता का नाम पूछा पर लज्जित तारा निरुत्तर रही। पर बाद में बुध ने उत्पन्न होकर जब अपने पिता का नाम पूछा तब उस 'साध्वी' ने चन्द्रमा का नाम बताया। इसी बुध का अनादर करने के कारण मुनि को स्वैरिणी- गर्भ-संभव होने के अभिशाप का भागी होना पड़ा था। यह कथा स्कंद-पुराण, आवंत्यखण्ड (२८।८२।६५), शिवपुराण, ज्ञानसंहिता (४५अध्याय) और ब्रह्मवैवर्त पुराण प्रकृति खण्ड (५८ अध्याय) में है। अन्तिम पुराण में वर्णन को रसीला बनाने का प्रयत्न किया गया है।

स्वयं बृहस्पति भी इसी अपराध के अपराधी थे। उन्होंने अपने कनिष्ठ भाई उतथ्य की पत्नी के साथ सहवास किया था [1]। भरद्वाज का जन्म इसी प्रकार हुआ पर समाज में बृहस्पति भी पूजित रहे, भरद्वाज और चन्द्रमा तथा बुध भी।

केवल पुराणों में ही नहीं बंगाल आदि प्रदेशों की कौलीन्य प्रथा का इतिहास भी सामाजिक सहिष्णुता की कहानियों से भरा है। संन्यासी यदि फिर से विवाह करे तो वह शास्त्र दृष्टि से पतित होता है। पहले ही बताया गया है कि महाप्रभु चैतन्य देव के प्रधान शिष्य

---

[1] यह आख्यान थोड़े अन्तर के साथ वायुपुराण में दिया हुआ है। वहाँ उतथ्य की पत्नी बृहस्पति के बड़े भाई की पत्नी है। बृहस्पति के समागम काल में वे गर्भवती थीं। वे समागमभिलाषिणी भी नहीं थीं। उक्त पुराण में इस प्रसंग की ऐसी बहुत सी घटना है जिन्हें लिखने में संकोच हो रहा है।

नित्यानन्द—जिन्हे अवधूत कहा गया है—बाद मे महाप्रभु की आज्ञा से संसारी हुए थे। उन्होने नीच जाति की स्त्री से विवाह किया था। उसीके गर्भ से गंगा और वीरभद्र का जन्म हुआ (लालमोहन विद्या-निधि का सम्बंध-निर्णय पृ० ४४६)। नित्यानन्द की तीन पत्नियों का उल्लेख मिलता है—वसुधा, जाह्नवी और ठाकुरानी। पहली विवाहिता थी, दूसरी वाग्दत्ता और तीसरी दहेज मे प्राप्त। अर्थात् पहली को छोड़कर बाकी दोनो विवाहिता नहीं थीं। अस्तु। जाह्नवी से ही वीरभद्र का जन्म हुआ था (वही)। इनकी धारा अब भी समाज मे गुरु रूप से पूजित है। इनके साथ सम्बन्ध नैतिक दृष्टि से अनुचित नहीं था पर सामाजिक दृष्टि से अपराध था। किन्तु समाज तो नैतिक अपराध की अपेक्षा सामाजिक अपराध को ही अधिक महत्त्व देता है। वल्लालसेन ने नीच जातीय पद्मिनी से विवाह किया था (वही १०५) पर उन्हीं की प्रवर्तित कौलीन्य प्रथा को समाज बहुत दिनो से सिर पर ढो रहा है।

महाराष्ट्र के ज्ञानेश्वर आदि भक्त संन्यासी पिता के पुत्र थे, यह बात पहले ही कही गई है। संन्यासी पुत्र होने के कारण महाराष्ट्र मे वे निन्दित रहे पर बंगाल में नित्यानन्द का वंश प्रतिष्ठित हो गया। जान पड़ता है यहाँ के समाज में फिर भी कुछ प्राणशक्ति बची थी। एक और उत्तम उदाहरण भाटपाड़ा के पंडित लोग हैं। भाटपाड़ा बंगाल की काशी है। जिन पंडितों की विद्या और ज्ञानगरिमा से समूचे बंगाल और भारतवर्ष का मुख उज्जवल है उनके वंश के प्रतिष्ठाता आदि पुरुष भी संन्यासी से गृहस्थ हुए थे। उन दिनों कोई-कोई उन्हें संसारी बनाने के विरोधी थे और बहुत से लोग उनके पूर्व परिवार मे भी आस्था नहीं रखते थे। किन्तु संदेहवादियों का मुँह काला करके उक्त संन्यासी के वंशज आज देश के गौरव स्वरूप हो गए हैं।

भावाल के संन्यासी वाला मामला आज भारत-प्रसिद्ध है। पर

सच पूछा जाय तो इनका पूर्ववर्ती वंशेतिहास कम रहस्यजनक नहीं है। एक कृती पुरुष ने आकर अपने को ब्राह्मण बताया और घटकों (अर्थात् ब्याह सम्बंध कराने वाले अगुओं) को पैसे का लोभ देकर कुलपंजी में अपना स्थान करा लिया। कहा गया कि बज्रयोगिनी ग्राम के पुनीलाल का एक चार वर्ष का बालक खो गया था। यह वही हैं। इसीलिये बंगाल में एक कहावत अब भी इस आशय की प्रचलित है कि 'था तांतो, हुआ कायथ और ढाका में जाकर बन गया, मुंशी नन्द-लाल।' वही बज्रयोगिनी का पुनीलाल होकर भावाल में उदित हुआ।'

बंगाल के कुल शास्त्रों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि कुलीन कहाने वालों के वंश में भी कहीं न कहीं खोट रह गई है। एक उदाहरण लिया जाय। फुलिया मेल के इतिहास से स्पष्ट है कि श्री नाथ चाटुति की दो अदत्ता कन्यायें थीं। ये घाट पर जल लाने गई थीं। हंसाई खाँ नामक कोई मुसलमान आकर उनका जात मार गया बाद में इनमें से एक का विवाह हुआ परमानन्द पूति से और दूसरी का गंगाधर गंगोपाध्याय से (वही ४३९-४४०)। कोई-कोई कहते हैं कि यह बात वंश के शत्रुओं ने उड़ाई है। पर अगर यह सच भी हो तो कन्याओं का इसमें क्या दोष था ? दोष तो समाज का था।

इसी प्रकार रोहिला पटी, कुतुबखानी, आलियाखादी आदि मुस-लिम संसर्गज कुलों की कहानी भी इन ग्रन्थों में मिलती है।

पण्डित रत्नी मेल में भी यवन दोष है (पृ० ४८७)। कुलीनों के ३६ मेलों में ही यवनादि अपवाद हैं (पृ० ५९५)। पण्डित रत्नी मेल में कुण्ड दोष और गोलक दोष भी है। पति के रहते ही जो जारज सन्तान होती है उसे कुण्ड कहते हैं और मरने पर जो जारज सन्तान होती है उसे गोलक कहते हैं (मनु० ३।१७४)। वाली मेल में भी यवन संसर्ग है और शुराजखानी में यवननीता कन्या ग्रहण का प्राय-श्चित्त है। इसी प्रकार पारिहाल और शुको सर्वानन्दी मेलों में भी दोष है (४९९)। वारेन्द्रों में पुरन्दर मैत्र के कुल में, जोताली और

चण्डाली दोष है। पूर्व बङ्गाल के रमाकान्त वंश में भी दोष है जो बलात्कार कृत होने के कारण उपेक्षित हुआ है (पृ० ५६२, ४३५)। कांटादि के दासू वंश में बनिया की कन्या ग्रहण करने का दोष बाताया जाता है।

इन दोषों में जहाँ दुर्बल के ऊपर प्रबल का अत्याचार हुआ है वह सचमुच ही उपेक्षणीय हैं क्योंकि वे असल में समाज की असमर्थता के कारण हुये हैं। पर आश्चर्य होता है तब जब इन्हीं वंशों के वंशधर दूसरों के ऐसे ही या बिल्कुल ही कल्पित अपराधों को तिल का ताड़ बना देते हैं और जातिच्युत करते हैं।

बंगाल के राढ़ीय ब्राह्मणों में एक-एक पुरुष कई-कई विवाह किया करते थे। अनेक समय नोटबुक में ससुराल और श्वसुर का नाम देखकर ही वे विवाह सम्बन्ध याद कर पाते थे! दूसरी ओर वंशज ब्राह्मण ब्याह ही नहीं कर पाते थे। इनके लिए कन्याएँ दुर्लभ थीं। लोग नावों में भर-भरकर कन्याएँ बेचने को लाते थे। वे कन्याएँ अधिकतर विधवा और नीच वंशीया होती थीं। सभी ब्राह्मण कुमारी कहकर बेंची जाती थीं और लोग गरज़ के मारे विशेष अनुसंधान किये बिना ही उन्हें स्वीकार कर लेते थे। पूर्वी बङ्गाल में इन्हें 'भरार मेये' कहते हैं। पूर्व बंगाल में, विशेष करके विक्रमपुर की ओर इन 'भरार मेयेओं' की बहुत खबर मिलती है। अनेक समय बाद में 'भरार मेये' के असली कुल का पता चलता था। शत्रु पक्ष तो काफी होहल्ला करता था पर अपने पक्ष के लोग इन घटनाओं को दबा देते थे। फिर ऐसे विशुद्ध कुल भी कम ही होते थे जो साहसपूर्वक होहल्ला कर सकें क्योंकि अपनों में भी कहीं-न-कहीं वैसी बात हुई ही रहती थी। अनेक बार इन कन्याओं के वंशधर प्रचण्ड समाजपति हो जाते थे जो अन्यों को दोष देकर जातिच्युत करने में पूरा उत्साह दिखाते थे। यह प्रथा अब भी लोप नहीं हो गई है।

केवल बङ्गाल में ही नहीं, अन्यान्य प्रदेशों में भी जहाँ ब्राह्मणों

क्षत्रियों में बहुतेरे युवक नाना कारणों से अविवाहित रह जाते हैं। नाना स्थानों से कन्याएं बिक्री के लिये आ जाती हैं और कई बार वे नीच वंशोत्पन्ना भी होती हैं। उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलों की ऐसी घटनाएं हमें मालूम हैं। अधिकांश मामलों में स्वपक्ष वाले इन बातों को दबा देने में सफल हो जाते हैं। कभी-कभी सफलता नहीं मिलती और विवाहित और उसके सम्बन्धी जातिच्युत भी किये जाते हैं। कुछ दिनों के बाद कुछ प्रायश्चित्त के बाद ये जातिच्युत उठते भी देखे गये हैं।

पंजाब, राजपूताना आदि में भी यह दुर्गति नाना आकारों में विद्यमान है। पंजाब में तो कन्या-संग्रह और विक्रय का विधिवत् व्यवसाय चलाता है। प्रकट हो जाने पर भी प्रायः कोई भी इनके लिए जवाब तलब करने की हिम्मत नहीं करता है।

यह सब देखकर गरुड़पुराण की बात ही ठीक जान पड़ती है—

नदीनामग्निहोत्राणां भारतस्य कुलस्य च।
मूलान्वेषोनकर्त्तव्यो मूलोदोषेण हीयते॥

(मतलब के लिये देखिए पृ० १६३)

इसके साथ ही नैषधीय चरित का एक श्लोकार्द्ध याद आता है जो यद्यपि चार्वाक के मुँह से कहवाया गया है पर गम्भीर युक्तिपूर्ण। टीकाकार श्रीनारायण ने इसके समर्थन में नाना शास्त्रों के वाक्य संग्रह किये हैं। श्लोकार्ध यों है—

तदनन्तकुलादोषाददोषा जातिरस्ति का। (१७-४०)

अर्थात् अनन्त परम्परा के भीतर से कुल और जाति चल रही है। इसीलिए जाति और कुल में कितने ही दोष हो सकते हैं। निर्दोष जाति कहाँ है। जातिगत निर्दोषता की आशा करना ही बेकार है।

इस पर नैषध के टीकाकार नारायण ने एक प्राचीन वचन उद्धृत किया है—

अप्येकपंक्त्यां नाश्नीयात् संयतैः स्वजनैरपि ।
को हि जानाति किं कस्य प्रच्छन्नं पातकं भवेत् ॥

अर्थात् अपने संयत स्वजनों के साथ भी एक पंक्ति में भोजन नहीं करना चाहिये। कौन जानता है, किसमें कौन-सा पाप छिपा हुआ है।

पर क्या इतने से झंझट छूट गई। न हुआ औरों के संसर्ग से बचा लिया गया पर अपने कुल-परम्परा के प्रच्छन्न पातक क्या उत्तराधिकार सूत्र से नहीं मिलते? कितने युग से यह अनादि संसार प्रवाह चलता आ रहा है। इसीलिए इस कुल की विशुद्धि के लिए प्रत्येक नारी को काम मोहादि के अतीत होना चाहिए और काम तृष्णा दुर्वार है! जाति-विशुद्धि सम्पूर्णतः कामिनियों की इच्छा के अधीन है ऐसी हालत में जातिपरिकल्पना का कोई मतलब ही नहीं होता—

अनादाविह संसारे दुर्वारे मकरध्वजे ।
कुलेच कामिनीमूले, काजातिपरिकल्पना ॥

(नैषध, १७-४० की टीका में उद्धृत)

जातिभेद का परिणाम

जैसा कि शुरू में कहा गया है, मनुष्य समाज में ऊँच नीच-भेद सर्वत्र ही है किन्तु हमारे देश के जातिभेद जैसा भेद संस्कार में और कहीं भी नहीं है। अन्याय देशों में समस्त भेदों के भीतर भी ऐक्य स्थापना करता है धर्म, जबकि हमारे देश के जातिभेद की दीवार ही धर्म पर खड़ी हुई है। इस भेद के मूल में ही धर्म है। कभी-कभी सहज बुद्धि इस भेद को स्वीकार नहीं भी कर सकती। पर धर्म में ही इस भेद का मूल रहने से देश में उन कुफलों का प्रतीकार करना असंभव-सा है जो इस भेद से पैदा होते हैं।

देह के भीतर स्वास्थ्य का अर्थ है सामंजस्य। व्याधि से सामंजस्य नष्ट होता है। किन्तु हमारा पाकयंत्र, रक्तचलाचल और स्नायुमण्डल आदि यंत्र निरन्तर सारी विषमताओं से भीतर साम्य लाने का प्रयत्न करते रहते हैं। यदि कभी सामंजस्य नष्ट होता है तो हमारे पाकयंत्र, हृत्पिण्ड, श्वासयंत्र आदि के द्वारा यह दोष दूर होता है। किन्तु जब चिकित्सक देखता है कि साम्य लाने में सहायक ये यंत्र ही बेकार हो गये या बिगड़ गए हैं तो ऐसे सन्निपातादि रोग में वह हताश हो जाता है। इसीलिए जब हम देखते हैं कि धर्म ही इस वैषम्य के मूल में है तो प्रतीकार की आशा कहाँ से करें?

अब विचारणीय यह है कि जातिभेद के रहते इस देश में क्या लाभ या हानि हुई है।

जब तक जातिभेद प्रथा खूब दृढ़ भाव से इस देश में प्रतिष्ठित नहीं हुई थी तब तक पूर्वकाल में भारतवर्ष के बाहर से आनेवाले लोग इस देश के समाज में गृहीत हो जाते थे। सन् ईसवी पूर्व की दूसरी शताब्दी में बेसनगर में प्राप्त शिलालेख से जान पड़ता है कि तब-

शिलावासी दियस के पुत्र ग्रीक नरपति हेलियोडोरस परम भागवत हो के गरुड़ध्वज बनवा रहे हैं। कनिष्क हुविष्क आदि शक्तिशाली राजा, जो विदेशी थे, भारतीय समाज में अनायास ही गृहीत हो गए। काडफाइसस परम माहेश्वर (शैव) हो गए थे । राजतरंगिणी से मालूम होता है कि तुरुष्क-वंशीय ये पुण्य नरपतिगण सुष्कल आदि देशो मे मठ-चैत्यादि की प्रतिष्ठा कराते थे (१ । १७०) नहपान के जामाता उषनदात सन् ईसवी की दूसरी शताब्दी के प्रथमार्ध मे एक बड़े धार्मिक पुरुष हो गए हैं। श्रीनगर के राजा मिहिरकुल ने मिहिरेश्वर महादेव की स्थापना की थी (१।३०६) । इस प्रकार नाना युगो मे नाना स्थानो से आए हुए शक, हूण, यवन, कोची, मीना प्रभृति वीरो के दल भारतीय समाज की शक्ति संजीवित रखते रहे हैं। जिन राजपूतों की वीरगाथाओ के लिए हम इतने गर्वित हैं वे भी एक समय बाहर से ही आये हुए हैं। अभी उस दिन भी जयन्तिया, काछारी, मणिपुरी आदि जातियों ने हिन्दू समाज का अग पुष्ट किया है । किसी-किसी प्रत्यन्त सीमा पर अब भी यह काम धीरे-धीरे हो रहा है। किन्तु इस कार्य में वह प्रबल शक्ति अब नहीं है जो कुछ शताब्दी पहले तक थी। अब इस प्रकिया का जोर वैसा नही रहा। कभी नाथपंथी योगी आदि जातियो का एक स्वतंत्र मत था। वे वर्णाश्रम नहीं मानते थे, मृतक का दाह नहीं करते थे, बल्कि पृथ्वी में गाड दिया करते थे, पर अब वे धीरे-धीरे हिन्दू समाज में प्रविष्ट हो गए हैं। इन्होने वर्णाश्रम धर्म भी स्वीकार कर लिया है, और वैष्णव धर्म स्वीकार कर परम वैष्णव हो गए हैं। गुरु, मन्त्र, तीर्थ, पूजा, प्रार्थना आदि स्वीकार कर रहे हैं। यद्यपि अब भी इनमें अपना विशिष्ट परिचय कुछ-न कुछ है ही तथापि ये विशेषताएं धीरे-धीरे ह्रास हो रही हैं । फिर भी इसको अपनाना नहीं कह सकते और यदि अपनाना इसे कहा भी जाय तो वह पूर्ववर्ती वेग इसमें एकदम नहीं है जो पहले था। अन्यान्य धर्मावलम्बीगण नाना उपायो से अपनी संख्या बढ़ा रहे

हैं, उसकी तुलना में यह कुछ नहीं है। वरन् छोटे-छोटे कारणों से व्यर्थ ही बहुत से आदमियों को अकारण समाज से निकाल बाहर करने की प्रवृत्ति ही जोरों पर है। कहना व्यर्थ है कि हिन्दू समाज ने इस प्रकार आत्महत्या का रास्ता पकड़ा है।

बङ्गाल से टिपरा जिले के माहीमाल या माई फ़रोश मुसलमान पहले हिन्दू कैवर्त थे। बिना दोष के ही उन्हें समाज से निकाल दिया गया। सुना है, एक बार इनके पास के गाँव में हैजे की बीमारी हुई थी। उस गाँव के निवासी मुसलमान थे। हैजे के प्रकोप से सभी समाप्त हो गए। एक बच्चा बचा रह गया। कैवर्तों को दया आई। उनकी एक स्त्री ने उसे दूध पिलाया और बड़ा किया। बाद में तर्क उठा कि यह लड़का तो हिन्दू नहीं है, उसे पालन करनेवाली की जात नहीं रही और उसके साथ खान-पान का सम्बन्ध रखनेवाले सभी मुसलमान हो गए; इस प्रकार उन्हें जबर्दस्ती हिन्दू धर्म से बाहर निकाल दिया गया। बहुत दिनों तक वे समाज की कृपा की प्रतीक्षा में रहे पर समाज के नेताओं का हृदय नहीं पसीजा। अब वे पक्के मुसलमान हैं!

इस प्रकार हिन्दुओं ने अनेक अपनों को पराया बनाया है। मलकाने राजपूत अपने देश और गोब्राह्मण की रक्षा के नाम पर जीतोड़ लड़ाई कर रहे थे। इसी समय किसी ने गलत अफ़वाह उड़ा दी कि शत्रुओं ने कुएँ में गोमांस डाल दिया है। यह अफ़वाह उन्हें समाज-च्युत करने के लिए पर्याप्त सिद्ध हुई। वे बिना किसी अपराध के स्वधर्म त्यागने को बाध्य किए गये। बहुत दिनों तक वे धर्म छोड़ने को तैयार नहीं हुए। अब भी उनके आचार-विचार में क्षत्रित्व का प्रचुर स्थान है। फिर भी 'पवित्र' हिन्दू समाज अपने इन सपूतों को दण्ड देने में पीछे नहीं है। आज ये लोग 'मलकाने मुसलमान' कहाते हैं! किमाश्चर्यमतः परम !!

काशी के पास योगी भर्थरी या भर्तृहरि का गान करते हैं।

इन्हें भी हिन्दू समाज में रखना संभव नहीं हुआ है। आज भी वे कंथाधारी होकर योगी के वेश में घूमते हुए गाते और भीख माँगते फिरते हैं। हिन्दू ही इनका भरण-पोषण करते हैं, इनसे गंडे ताबीज़ भी लेते हैं, इनकी पूजा भी करते हैं फिर भी आज नाम के मुसलमान हैं और अपने को मुसलमान कहकर परिचय देने को बाध्य हैं। पटुआ और चितेरों के नाम रहन-सहन और व्यवहार सब हिन्दू के हैं, देव-देवियों का पट और चित्र बनाना ही उनका व्यवसाय है, फिर भी वे मुसलमान हैं! इसी प्रकार दक्षिण के मापिल्ला भी मुसलमान हुए हैं।

इस प्रकार हिन्दू समाज से जबर्दस्ती बहिष्कृत आधे हिन्दू आधे मुसलमान बहुतेरी जातियाँ अब भी इस देश में हैं। मौल-इस्लामों को किसी समय जबर्दस्ती राजपूतों में से निकालकर बहिष्कृत किया गया है, आज भी ये लोग काजी और मुल्ला को बुलाते जरूर हैं पर पुराने गुरु और पुरोहितों को भी नहीं छोड़ा है। पूर्वकाल में उनके जिस प्रकार विवाहादि अनुष्ठान आचार पालन किए जाते थे, भाट-चारण बुलाये जाते थे, वह रूप अब भी है (Cens. Bar, I, P. 432)।

गुजरात और सिंध में ऐसी बहुत सी श्रेणियाँ हैं। मतिया, मोमना, शेख, मौल-इस्लाम, संघर आदि को बिना कारण मुसलमान कहकर मनुष्य-गणना की रिपोर्ट में गिनती की गई है। सिंध के संयोगी लोग किसी भी प्रकार अपने को मनुष्य गणना के समय 'मुसलमान' लिखाने पर राजी नहीं हुए। अगत्या रिपोर्ट के (लेखकों) ने उन्हें 'अन्यान्य जाति' लिख मारा (Cens. Ind. 1621 Vol. I Part I, 115-116) ऐसे ही मेव राजपूत भी हिन्दू से मुसलमान हो गए हैं! Gloss III, P. 82) मीराशी लोगों का भी यही दास्तान है (वही १०५-११६)। ये लोग देवी के भक्त हैं और देवी के गान गाते हैं (पृ० ११५)। इनके अनेक गोत्र हैं। लावाना लोगों के विषय

में भी खोज की जाय तो ऐसी ही बात निकल आयेगी (पृ० १)। इसी तरह सखी सरवर के उपासक भी न-हिन्दू-न-मुसलमान हैं (पृ० २३५, ४३६)। शमूसी सम्प्रदायवाले पीर शम्स तबरेज के उपासक थे। ये पहले हिन्दू थे। गीता मानते थे और हिन्दू आचार से रहते थे परन्तु साथ ही मुसलमान गुरुओं के प्रति भी शक्तिशाली थे। पहले तो मुसलमान गुरुओं ने कुछ नहीं कहा। बाद में बोले कि तुम्हारे पुरखे गुप्त रूप से मुसलमान धर्म को मानते थे। इसीलिए हिन्दुओं ने उन्हें समाज से निकाल बाहर किया (पृ० ४०२-४०३)।

रसूलशाही एक ओर तांत्रिक और योगी हैं दूसरी ओर मुसलमान हैं। इनको किस श्रेणी में रखा जाय यह कहना कठिन है (वही पृ० ३२४)। गंजाम में उड़ीसा से आई हुई आरुवा जाति आचार-विचार में सर्वथा हिन्दू है, केवल विवाह के समय मुल्लों को बुलाती है (Thurston I, 59)। इसी तरह मद्रास की दुदेकुल जाति न-हिन्दू-न-मुसलमान हैं। इन्हें भी व्याह-शादी के अवसर पर ही मौलवी बुलाना पड़ता है यद्यपि इनके वैवाहिक अनुष्ठान हिंदुओं के ही हैं और देवमन्दिर में पूजा-अर्चना भी ये करते हैं (वही, II-165)। तिलंगाने के काटिभ भी जबर्दस्ती हिन्दू समाज से बहिष्कृत हैं। (वही III, 259) माराकय्या पहले हिन्दू थे और अब भी इनके वैवाहिक अनुष्ठानों में हिन्दू आचार वर्तमान हैं (वही V, 105)। मोपला लोग अब भी हिन्दू देवी-देवताओं की पूजा करते हैं और तिया लोग मोपलो के मस्जिद में मानता मानते हैं (वही VII, 105)। अनेक स्थानों पर अब भी हिन्दू और मुसलमान दोनों ही एक ही देवमन्दिर में उपासना करते हैं और मानता रखते हैं। दक्षिण की कोई-कोई मुसलमान श्रेणी अपने को महादेव कहकर परिचय देती है (वही I V,Z26)। मुक्कुक्‍ समुद्री मल्लाह हैं। इनमें किसी प्रकार मुसलमान संसर्ग हो तो, ऐसे संसर्ग से उत्पन्न संतान को मुसलमान के हाथ में ही सौंप देते हैं। ऐसे बच्चों से बनी हुई एक अलग श्रेणी

ही है जिसे पुटिया या 'नया इस्लाम' कहते हैं (वही Vol V. P. 111) । पंजाब और उत्तर प्रदेश के भाट भी ऐसे ही जबर्दस्ती मुसलमान बने हुए हैं । उनके सब आचार अब भी हिन्दुओं के ही हैं । विवाह में पहले वे पुरोहित बुलाकर कन्यादान कराते हैं तब बाद में काजी बुलाते हैं (crook II P. 25) ! बोहरा मुसलमानों के विषय में प्रसिद्ध है कि वे पहले ब्राह्मण थे । कोई-कोई वंश पालीवाल गौड़ वंश से उत्पन्न है । राजपूत बोरा भी हैं (पृ० १४०) । डफाली भी कुछ हिंदू आचार और कुछ मुसलमान आचार पालन करते हैं (वही पृ० २४१) । घोसियों के पूर्वपुरुष मुसलमानों से प्रभावित थे । फिर भी उनके वंश में बहुत से हिन्दू आचार और संस्कार अब भी प्रचलित हैं (वही पृ० ४२०) । इसी तरह हुसेनी ब्राह्मण लोग न हिन्दू न मुसलमान हैं (पृ० ४६६) । ऊपर बताई हुई आधा हिन्दू आधा मुसलमान जैसी बहुतेरी श्रेणियों का पौरोहित्य ये लोग करते हैं । रांकी यद्यपि मुसलमान रूप में ही परिचित हैं पन्रतु वे भवानी आदि देवियों के पूजक हैं (वही Vol. III, पृ० ७) । किंगानियों की भी यही बात हैं (पृ० २८२) लालखानी भी नये मुसलमान हैं । अब भी इनमें बहुत हिन्दू संस्कार बचे हुए हैं (वही पृ० ३६३)। ऐसी आधा-हिन्दू-आधा-मुसमलान श्रेणियाँ बहुत हैं । हिन्दू लोग उन्हें स्वीकार नहीं करते और मुसलमानों में उनका आदर है । इसलिए ये लोग धीरे-धीरे मुसलमान धर्म की ओर ही अधिकाधिक झुकते जा रहे हैं । इससे हिन्दू समाज क्रमशः क्षय होता जा रहा है । केवल डोंगरा दासरी लोगों में मुसलमान भी गृहीत हुए हैं, ऐसा जाना जाता है (Thurston II, P. 192); लेकिन अत्यन्त निम्न श्रेणी के केवल दो-एक व्यक्ति ही ।

एक नया आधा-हिन्दू आधा-मुसलमान दल भी है । प्रसंग आ गया है तो इनकी भी चर्चा की जाय । ये अलीगढ़ के प्रसिद्ध सर सैय्यद अहमद खाँ के अन्तरङ्ग हैं । ये लोग केवल दार्शनिक ढङ्ग के

उदार मुसलमान धर्म को मानते हैं और साम्प्रदायिकता वर्जित सहज सत्य को स्वीकार करते हैं। प्रकृति या नेचर (Nature) को स्वीकार करने के कारण वे लोग नेचरी कहलाते हैं। इनमें अनेक हिन्दू भी हैं (Glass, III, 166)।

जो ऐसी आधी-हिन्दू-आधी-मुसलमान जातियाँ हैं उनकी अवस्था के अनुसार उचित यही था कि कुछ इधर आ जातीं कुछ उधर जातीं। पर हिन्दू समाज में बाहर से आने का रास्ता बन्द है। घर का आदमी भी यदि एक बाहर चला गया तो फिर उसका घर में आना असम्भव है। अभिमन्यु चक्रव्यूह के भीतर घुस सकते थे, बाहर नहीं निकल सकते थे पर यहाँ आदमी बाहर तो निकल सकता है, भीतर नहीं आ सकता।

भीतर आने में प्रधान बाधा जातिभेद है। जिस जाति से कोई बाहर जाता है वह जाति अपनी प्रतिष्ठा बचा रखने के लिए उसे फिर से अपने दल में स्थान नहीं दे सकती। फिर जो बाहर जाकर जात-पांत ठीक नहीं रख सके उन्हें किस जाति में भरती किया जाय? बाहर जाने से वर्णाश्रम तो विशुद्ध रह नहीं जाता। यदि वह लौटना चाहे तो उसे बैठाने का कोठा खोजे भी नहीं मिलता। इस दुर्गति के कारण हिन्दुओं ने निरन्तर ही अपनों को पराया बनाया है। अपना जब एक बार पराया हो जाता है तो उसका आघात बड़ा ही कठोर और निर्मम होता है। कर्ण का आघात अर्जुन के लिए सर्वाधिक सांघातिक था। जिसे अपमानित करके जाति-बहिष्कृत किया गया है, वह इस अपमान को कभी नहीं भूलता। गोस्वामी तुलसीदास ने ठीक ही कहा है—'सब से कठिन जाति अपमाना।'

यदि बाहर वालों को भीतर बुलाया भी जा सके तो समस्या यह होती है कि उन्हें रखा जाय किस जाति में? इसलिए हिन्दुओं के भीतर ले आने की प्रथा की बला ही नहीं है।

जब हिन्दू समाज में जातिभेद की प्रथा इतनी जटिल और कठोर

नहीं हो गई थी तब हिन्दुओं ने नाना देशों में जाकर नये-नये उपनिवेश स्थापित किये थे। उन दिनों भारतीय संस्कृति ब्रह्म देश, श्याम, कंबोडिया, जावा, सुमात्रा, बाली आदि द्वीपों तक फैल सका था। यह ध्यान देने की बात है कि इन सब देशों की ओर से भारतवर्ष पर न तो कभी कोई आक्रमण हुआ है न इन्होंने किसी और तरह से आघात किया है। जब इस देश में छुआछूत का विचार प्रबल हुआ तभी समुद्रयात्रा निषिद्ध हुई और साथ ही साथ पृथ्वी के अन्यान्य स्थानों से भारतीय समाज का सम्बन्ध टूट गया। ऐसे ही समय में पश्चिम की ओर से उस पर अनेक आघात हुए। पहले तो मध्य-एशिया भारतीय संस्कृति का एक जबर्दस्त केन्द्र था। वहीं से कुमारजीव आदि पण्डितों ने चीन में जाकर भारतीय धर्म का प्रचार किया था। आज जान पड़ता है कि भारतवर्ष की इस प्राणशक्ति का विकास असम्भव है।

जिस व्यक्ति को कालकोठरी में बन्द किया जाता है उसकी तन्दुरुस्ती तो जाती ही है, विद्या, बुद्धि और विचारशक्ति भी लुप्त हो जाती है। शुरू में शायद बाहर की विपत्ति से आत्मरक्षा के लिए सीमा की लकीर खींची गई थी। आज यह लकीर ही मृत्यु का कारण हो गई है। अब बाहर की भीतिजनक वस्तु भीतर आकर बैठी है, फिर उस व्यर्थ की सीमा-रेखा से अब क्या लाभ है?

वर्णाश्रम व्यवस्था में ब्राह्मण को जो ऊँचा स्थान दिया गया था सो ब्राह्मण ने भी एक दिन अपने सरल अनाडम्बर ज्ञात-पूत जीवन-यात्रा से और ज्ञान-ध्यान-कर्म की साधना और तपस्या से समाज को पवित्र और आदर्श-प्रवण बनाया था। पर जो सम्मान सहज में ही मिलता है उसे पाकर कितने महापुरुष हैं जो अपना कर्तव्य निभाते रहें और तपस्या और साधना में अटल रह सकें? समाज में ब्राह्मणों को बाद में चलकर बिना तपस्या और साधना के ही सम्मान और श्रद्धा मिलने लगी। इससे तामसिकता आती है और अन्त में पतन

होता है। ब्राह्मण का यह पतन समस्त जाति को दुर्गति की ओर ले गया है।

पद्मपुराण कहता है कि आपत्काल में भी ब्राह्मण की नौकरी नहीं करनी चाहिए और न राजसेवा ही करनी चाहिए (पातालखण्ड, ४।१६०-१६८)। फिर भी आज ब्राह्मण लोग वह सब करने को बाध्य हुए हैं। फल यह हुआ कि समाज के ऊपर आज उनका वह प्रभाव नहीं है। अवश्य ही निरुपाय होकर ही उन्होंने यह रास्ता लिया है पर जो कल्याण समाज उनसे पाता था, अब वह नहीं पा रहा है। जिस समाज में तपोनिष्ठ नेता का अभाव होता है वह समाज दिन-दिन नष्ट होता है।

पहले जाति-भेद और वृत्ति-भेद के कारण अन्नोपार्जन के क्षेत्र में अन्यायमूलक चढ़ा-ऊपरी नहीं थी। जब वे राजा भी नहीं रहे, वह समाज-व्यवस्था भी नहीं रही फिर वह वृत्ति-भेद सुरक्षित रहे तो कैसे रहे?

जिन देशों में जातिभेद नहीं है वहाँ देश पर बाहरी शत्रु के आक्रमण होने के समय सभी देशवासी लड़ते हैं। इस देश में युद्ध करना एक श्रेणी विशेष का कार्य माना जाता है। यह श्रेणी जब नष्ट या विपन्न हो जाती है तो बाकी लोग असहाय होकर कर्तव्य-मूढ़ हो जाते हैं। इससे आक्रमणकारी को सुविधा होती है। ऐसा तो नहीं है कि अ-क्षत्रियों ने जिस देश में बीच-बीच में शत्रु को बाधा पहुँचाई ही न हो, पर वह साधारण नियम का अपवाद ही था। कभी-कभी कहीं-कहीं निम्नतर श्रेणी के लोगों ने इस प्रकार क्षत्रियत्व भी प्राप्त किया है। और कुछ काल तक देशरक्षा के कार्य में नई शक्ति और वीरता भी जुटाई है। पर सब मिलाकर देखा जाय तो देशरक्षा के मामले में जातिभेद से नुकसान ही हुआ है।

जातिभेद के कारण जो एक बड़ा ही निष्ठुर काण्ड आजकल चल रहा है वह यह है कि बहुत से हिन्दू बर्मा आदि में जाकर वहाँ की

स्त्रियों से विवाह करते हैं। वे उन्हें लेकर घर नहीं लौट सकते। जात-पाँत का भय रहता है। देश को लौटते समय इन स्त्रियों और सन्तानों को ये जबर्दस्ती मुसलमान या ईसाई बनाकर लौट आते हैं। वैसे तो हिन्दू समाज की दृष्टि से यह क्षतिकर है ही, मनुष्यता की दृष्टि से भी अत्यन्त गर्हित है। इस प्रकार की उत्पन्न सन्तान पुराने युग में हिंदू ही होती पर जातिभेद की कठोरता के कारण आज यह सम्भव नहीं है। इस प्रकार हिंदू निरन्तर क्षय की ओर धावमान है।

हमने पहले ही देखा है कि सिंध देश का देवल-स्मृति में इस सामाजिक क्षय को रोकने के लिए ही विधर्मी द्वारा या अन्याय भाव से लांछित स्त्री को समाज में ले लेने की व्यवस्था है। अत्रि आदि स्मृतियों के अध्ययन से हम देख चुके हैं कि असल में वे ही लोग निन्दनीय और प्रायश्चित्ती हैं जो अन्यायपूर्वक लांछिता स्त्रियों की रक्षा में समर्थ नहीं हैं।

जो लोग बाहर से हिन्दू धर्म के प्रति आस्था और विश्वास लेकर आते हैं उन्हें हिन्दू लोग अपना भी नहीं सकते। ये भगिनी निवेदिता जैसी साध्वी नारियों और मैक्समूलर जैसे महाचेता पुरुषों को संन्यासी बनाये बिना ग्रहण ही नहीं कर सकते। गृहस्थ रूप में अगर इन्हें स्वीकार किया जाय तो किस जाति में रखा जायगा? यदि इन्हें ब्राह्मण क्षत्रिय बना लें तो महापण्डित ब्रजेन्द्रशील को किस मुँह से तांती कहते रहेंगे? बाहर से आये हुये लोगों को यदि हम ब्राह्मण मानें तो मेघनाद साहा जैसे कृती हिन्दुओं को 'साहा' कहते रहना कहाँ का योग्य विचार है? महात्मा गाँधी महात्मा होने के कारण सबके पूज्य हो सकते हैं पर गृहस्थ गाँधी सदा गाँधी ही रहेंगे, यद्यपि उनके पुत्र को ब्राह्मण राजगोपालाचार्य ने कन्या दी है। संन्यासी विवेकानंद जितने भी पूज्य हों गृहस्थ के रूप में वे अब्राह्मण ही हैं। राजा राजेन्द्रलाल जैसे लोग कितने बड़े पण्डित क्यों न हों ब्राह्मण कदापि नहीं हो सकते।

बौद्ध धर्म की साधना

कहा जा सकता है कि बुद्ध का धर्म तो भारतवर्ष से बहिष्कृत किया गया है फिर पुण्यतीर्थ ऋषि-पत्तन से भारतवर्ष का क्या सम्बन्ध है ? ऐसा कहनेवाले शायद बौद्ध मत और वैदिक मत के तर्क और विवाद को ही साक्षी मान बैठेंगे ! लेकिन यह विवाद घर का था, बाहर का नहीं। इससे भी बढ़कर विवाद हिन्दू धर्म के भीतर हमेशा से रहा है। शैवो और वैष्णवो में, फिर शैवो में भी वीर शैव और जंगम शैवो में, फिर वैष्णवो के भी अगणित सम्प्रदायो में। उदाहरणार्थ श्रीसम्प्रदाय और वल्लभाचार्य के मतो में निम्बार्क और माध्व मतो में, तंत्राचर के वाम और दक्षिण मतो में तथा शैवो और शाक्तो में, हमेशा से विवाद चला आ रहा है। बौद्धो मे कम सम्प्रदाय नही थे, उनमें भी विवाद और तर्क कम नही हुए हैं। धर्म को छोड़कर दर्शन में भी इस प्रकार के अगणित मत द्वैध और विवाद बहुत थे। लेकिन ऐसे मामलों में किसी भी देश में, कभी भी, अन्यथा होना ही असम्भव है। मृत्यु के सिवा ऐसा ऐकमत्य सम्भव ही नही है। भारत मे मतद्वैध और वाद-विवाद होने पर भी स्पेन के Inquisition की तरह दारुण घटना कभी नही घटी। फिर इतिहास में हम हमेशा यह बात देखते हैं कि बौद्ध राजा शैव और वैष्णव मन्दिर के लिए और शैव-वैष्णव राजा बौद्ध मन्दिर के लिए भूमिदान करते रहे। अनेक शिला-लेखों के रूप में इस बात की साक्षी अब भी चली आ रही है। हिन्दू और बौद्धों मे भेद बनाए रखना ही जिनके स्वार्थ के अनुकूल है वे लोग इन अनगिनत प्रमाणों को देखकर भी किसी प्रकार अपना मत नहीं बदलेंगे।

सुप्रसिद्ध ऐतिहासिकाचार्य महामहोपाध्याय पण्डित हरप्रसाद

शास्त्री ने बताया है कि बौद्ध-धर्म भारत से कभी भी हटाया नहीं गया। वह भारतवर्ष के हिन्दू धर्म में अंगीकृत हो गया है। इस बात के ज्वलन्त प्रमाण हैं बौद्ध और हिन्दू देव-देवियों के ध्यान और मूर्ति-लक्षण। भारत, यवद्वीप (जावा) चम्पा आदि स्थानों की शिव और विष्णु की मूर्तियाँ बौद्ध मूर्तियों का ही क्रम विकास हैं।

हमारे देश में जो लोग पार्थिव शिवलिंग की पूजा करते हैं वे शिव के मस्तक पर एक गोली रखते हैं। इसे वज्र कहते हैं। इसे हाथ से नहीं स्पर्श करते। बिल्वपत्र से हटा कर पूजा की जाती है। शैव उपासक की प्रतिदिन की पूजा में यह करना आवश्यक होता है। इसके सिवा बुद्ध तो हिन्दुओं के नारायण ही हैं, वे विष्णु के अवतार हैं।

बुद्ध का उपदेश भी भारत की साधना-भूमि में कोई आकस्मिक उपद्रव नहीं है। अगर ऐसा होता तो सर्व जगत् के धर्मतत्वज्ञ उसे सत्य कहकर स्वीकार न कर सकते। उपनिषद् में जो कुछ है उसका स्वाभाविक फल ही बुद्धदेव का उपदेश और वाणी है। धम्मपद के पद महाभारत प्रभृति ग्रंथों में भी पाये जाते हैं, विशेषकर अप्पमाद वग्ग के श्लोक।

बौद्ध दर्शन और हिन्दू दर्शनों में कहीं भी एक सीमा का निर्देश करना दुःसाध्य है। अद्वैतवाद के गुरु शंकराचार्य को तो उन दिनों प्रच्छन्न बौद्ध ही कहा गया था। उनका मतवाद बौद्ध मत का रूपान्तर भर है। मेरे मित्र महामहोपाध्याय श्री विधुशेखर शास्त्री ने अपनी गौड़पाद की आलोचना में इस बात को विशेष रूप से सिद्ध किया है, वहाँ देखते हैं कि एक ही बात बौद्ध और हिन्दू धर्म दोनों मतों मे अक्षरशः गृहीत हुई है। मैंने सन् १६३३ के बड़ौदा में होनेवाले अखिल भारतीय प्राच्य सम्मेलन में बताया था कि बौद्ध शून्यवाद और मध्ययुग के संतों का शून्यवाद एक ही चीज है। प्रज्ञाकर मति की बोधिचर्यावतार-पंजिका प्रभृति ग्रंथों में जिस

प्रकार परिच्छेद भाग किया गया है, कबीर, दादू आदि संतों की वाणियों का विभाग भी ठीक वैसा ही है। यहाँ तक की बोधिचर्यावतार की वीर्यपारमिता नामक सप्तम परिच्छेद का विषय कबीर और दादू आदि संतों के सुरातन अंग के विषय से मिलते हैं। ठीक इसी प्रकार के भाव तुलसीदास आदि भक्तों के ग्रन्थों में भी विद्यमान हैं। इसी प्रकार बौद्ध-गान और दोहों के साथ मध्ययुग के सन्तों के गान और दोहों में मर्म-गत समानता पायी जाती है। इसके अतिरिक्त और भी अनेक तरह के साम्य हैं जिन्हें दिखाना यहाँ असंभव है तथागत् का मध्य-पंथा और कबीर, दादू आदि का 'मधि को अङ्ग' की एकता देखकर विस्मित होना पड़ता है। बौद्धों की मैत्री भावना आज भी किस प्रकार वैष्णवों में चली आ रही है, यह बाद में दिखाऊँगा।

तब तथागत् ने हमें नया क्या दिखलाया ? दिखलाया अपना अपूर्व जीवन, अनुपम साधना और सिद्धि। जो सत्य और साधना वाक्य मात्र में अवसित होकर चले आ रहे थे, उसे उन्होंने इस प्रकार साधन किया, जीवन में प्रकाशित किया और दूसरों के चित्त में यह संचारित किया कि वह भाव सारे संसार का एक दीक्षा-पीठ हो रहा है।

बुद्ध की वाणी आज भारतवर्ष के नाना मतवाद में नाना भाव से रूपान्तरित होकर विद्यमान है। आज हमारी दृष्टि निष्प्रभ है, मत संकीर्ण है, साधना म्रियमाण है, आज विशुद्ध भाव से यदि तथागत् की वाणी और उपदेश हमारे बीच फिर से लौट आवें तो उसे प्रणत चित्त से ग्रहण करना हमारे लिये अत्यन्त आवश्यक होगा।

इसमें लज्जा की बात कुछ भी नहीं है। मानव-सभ्यता की विजय-यात्रा के लिये जो मशाल हमने जलाई थी वह आज बुझ गई है। जिन्होंने उस मशाल से अपनी मशालों को दीप्त कर लिया था उनका आलोक आज भी दीप्यमान है। आज जगत् और भारत की छाती पर सूचीभेद्य अन्धकार छाया हुआ है इसीलिये यदि ये दीप्त मशाल-

वाही लोग दया करके हमारी बुझी हुई शिखाओं को प्रदीप्त करने आये हैं तो सम्पूर्ण अन्तःकरण से हमें उसे स्वीकार करना होगा। यह तो परम आनन्द की बात है। बाइबिल में कहा है कि जो पुत्र बहुत दिन के अज्ञात-प्रवास के बाद लौट आता है, उसे पिता-माता सौगुने स्नेह और दुलार से स्वागत करते हैं। भगवान् सुगत भारत के वर पुत्र हैं। आज अपनी साधना और वाणी के भीतर होकर वे लौट आवें तो मंगल-दीप जलाकर, अर्घ्यपाणि होकर, हमें उन्हें अपने चिन्मय सिंहासन पर बैठाना होगा।

सत्य का विनाश नहीं होता। बीज जिस प्रकार सौ-सौ वर्षों तक समय, क्षेत्र और सुयोग के अभाव से सुप्त शक्ति होकर प्रतीक्षा करता है, सत्य भी उसी प्रकार सैकड़ों वर्षों तक प्रतीक्षा कर सकता है। आज वही साधना-बीज भारत के पीठ-स्थान सारनाथ में पुनः आया है। उसे उपयुक्त खेत, रस और आकाश दिया जाय। फिर से वह नये रूप और नई शक्ति से युक्त होकर अपने अन्तर्निहित ऐश्वर्य का प्रकाश करेगा।

आज इस सत्य की बड़ी आवश्यकता है। जगत् में बड़ा दुर्दिन उपस्थित है। द्वेष और हिंसा की सीमा नहीं है। मनुष्य मनुष्य के निकट सिंह व्याघ्र से भी भयानक हिंस्र हो उठा है। सारी सभ्यता आज ध्वंस की ओर दौड़ पड़ी है। भगवान् सम्यक् संबुद्ध की मैत्री वाणी के सिवा दूसरी गति नहीं है।

यह देश आज द्वेष और हिंसा की संकीर्णता और भेदबुद्धि से जर्जरित है। तथागत् की वाणी के सिवा कौन उसे ऐक्य, उदारता और महामैत्री देगा? काल-कवलग्रस्त भारत आज कातर भाव से उसी मैत्रीवाणी से नव-जीवन की प्रार्थना कर रहा है। आज सारे भारत को निखिल जगत् के निकट बोधिसत्व की प्रार्थना सुनानी होगी।

प्रज्ञाकर मति की बोधिचर्यावतार पंजिका का बोधिचित्त परिग्रह नामक तृतीय परिच्छेद :—

सर्वासु दिक्षु सम्बुद्धान् प्रार्थयामि कृतांजलिः ।
धर्मं प्रदीपं कुर्वन्तु मोहादुःख प्रतातिनाम् ॥३।४॥

कृतांजलि होकर सब ओर संबुद्ध गण के निकट प्रार्थना करता हूँ कि वे मोहवश दुःख सागर में पतित मनुष्यों के लिए धर्म का आलोक प्रदर्शित करें।

निर्वातुकामांश्च जिनान् याचयामि कृतांजलिः ।
कल्याननन्तांस्तिष्ठन्तु मा भूदन्धमिदंजगत् ॥३।५॥

निर्वाण-गमनोन्मुख जिनों से कृतांजलि होकर प्रार्थना करता हूँ कि वे अनन्त काल तक इस जगत् में रहें। ऐसा न हो कि यह जगत् तमसाच्छन्न हो जाय।

एवं सर्वमिदं कृत्वा यन्मयासादितं शुभं ।
तेन स्यां सर्वं सत्वानां सर्वं दुःख प्रशान्तिकृत् ॥३।६॥

उपासनादि के द्वारा जो पुण्य मेरे अन्दर हों, उनसे ऐसा हो कि, मैं सर्व जीव का सर्व दुःख प्रशान्तकारी होऊँ।

ग्लानानामस्मि भैषज्यं भवेयं वैद्य एव च ।
तदुपस्थायकश्चैव यावद्रोगापुनर्भवः ॥३।७॥

ऐसा हो कि मैं पीड़ितों के लिए औषध और चिकित्सक हो सकूँ। उनके रोगों की सम्यक् शान्ति होने तक मैं उनका परिचारक हो सकूँ।

क्षुत्पिपासाव्यथां हन्यामन्नपानप्रवर्षणैः ।
दुर्भिक्षान्तर कल्पेषु भवेयं पान भोजनम् ॥३।८॥

ऐसा हो कि दुर्भिक्ष-ग्रस्त-काल में मैं सबका पान और भोज्य हो सकूँ, अन्न और पान के प्रवर्षण से लोगों को भूख-प्यास की व्यथा दूर कर सकूँ।

दरिद्राणां च सत्वानां निधिः स्यामहमक्षयः ।
नानोपकरणाकारै रूपतिष्ठेयमग्रतः ॥३।९॥

ऐसा हो कि मैं दरिद्र जीवों का अक्षय निधि हो सकूँ और नाना उपकरणों के रूप में उनके निकट उपस्थित होकर उनकी सेवा कर सकूँ।

आत्मभावांस्तथा भोगान् सर्वत्र्यध्वगतं शुभम् ।
निरपेक्षस्त्यजाम्येष सर्वसत्त्वार्थसिद्धये ॥३।१०॥

सब जीवों की अर्थ-सिद्धि के लिए अपना शरीर, अपनी सारी भाग्य-सामग्री, अपने भूत, भविष्य और वर्तमान का सारा कल्याण अनासक्त चित्त से उत्सर्ग कर सकूँ।

सर्वत्यागश्च निर्वाणं निर्वाणार्थि च मे मनः ।
त्यक्तव्यं चेन्मया सर्वं वरं सत्त्वेषु दीयताम् ॥३।११॥

सब कुछ का त्याग ही तो निर्वाण है, और मेरा मन निर्वाण चाहता ही है। अगर मुझे सब कुछ त्याग करना ही है तो अच्छा हो कि वह सब जीवों के लिए दान कर दिया जाय।

यथासुखीकृतश्चात्मा मयायं सर्वदेहिनाम् ।

अपनी इस काया को मैंने सर्व जीव के कल्याण के लिए ही अर्पण कर दिया।

घ्नन्तु निन्दन्तु वा नित्यमाकिरन्तु च पांसुभिः ॥३।१२॥
क्रीड़न्तु मम कायेन हसन्तु विलसन्तु च ।
दत्तस्तेभ्यो मया कायश्चिन्तया किं ममानया ॥३।१३॥
कारयन्तु च कर्माणि यानि तेषां सुखावहम् ।

वे मारें या निन्दा करें या इसे धूल से आकीर्ण कर दें। मेरी इस काया से वे क्रीड़ा करें, हास्य करें या विलास करें, मैंने उन्हें इसे दे दिया, फिर अब इसके संबंध में चिन्ता कैसी ? उन्हें जिस तरह सुख हो वे वही करें।

अनर्थः कस्यचिन्मा भून्मामालम्ब्य कदाचन ॥३।१४॥

मेरे कारण से कभी किसी का कोई अनर्थ न हो।

अभ्याख्यास्यन्ति मां ये च ये चान्येऽप्यपकारिणः ।
उत्प्रासकास्तथाऽन्येऽपि सर्वेस्युर्बोधिभागिनः ॥३।१६॥

जो मिथ्या दोषारोप करके मेरी निन्दा करते हैं, जो मेरा अपकार करनेवाले हैं, और जो मेरा उपहास करते हैं, वे सभी बोधि लाभ करने में समर्थ हों।

अनाथानामहं नाथ सार्थवाहश्च यायिनाम्।
पारेप्सूनां च नौभूतः सेतुः संक्रम एव च ॥३।१७॥

ऐसा हो कि मैं अनाथों का नाथ हो सकूँ, यात्रियों का पथ-प्रदर्शक बनूँ, पार जाने के इच्छुक लोगों की मैं नौका बनूँ— मैं सबके लिए सेतु और संक्रम हो सकूँ।

दीपार्थिनामहं दीपः शय्या शय्यार्थिनामहम्।
दासार्थिनामहं दासो भवेयं सर्वदेहिनाम् ॥३।१८॥

दीपार्थियों के लिए मैं दीप होऊँ, शय्या चाहने वालों के लिए शय्या बनूँ और जो लोग दास की इच्छा रखते हैं ऐसे लोगों का दास बनूँ।

...भवेयमुपजीव्योऽहं यावत्सर्वे न निर्वृताः ॥३।२१॥

जब तक समस्त जीव निर्वाण प्राप्त नहीं करते तब तक मैं सबका उपजीव्य होऊँ।

इस प्रकार की मैत्री भावना वैष्णवों में भी प्रतिष्ठित हुई थी। इसीलिए हम भागवत में देखते हैं कि प्रह्लाद देवता के निकट वर का प्रत्याख्यान करके कह रहे हैं—

प्रायेण देव मुनयः स्वविमुक्तिकामा
मौनंचरन्ति विजने न परार्थनिष्ठाः।
नैतानविहाय कृपणान् विमुमुक्ष एको
नान्यंत्वदस्य शरणं भ्रमतोऽनुपश्ये ॥७।९।४४॥

हे देव, प्रायः मुनि लोग ही अपनी मुक्ति की इच्छा रखते हुए वन में मुनिव्रत का आचरण करते हैं, दूसरों के लिए उनकी निष्ठा

नहीं है। जगत् के इन कृपा-पात्रों को छोड़कर मैं अकेला मुक्ति नहीं चाहता। तुमको छोड़कर इन भ्रान्त लोगों का कोई अन्य शरणा-दायी नहीं दिखायी देता।

सर्व जीवों की सेवा के लिए रन्तिदेव जब सर्वस्व उत्सर्ग करने के बाद भी सब का सब अभाव दूर न कर सके तो कातर भाव से बोले—

न कामयेऽहं गतिरीश्वरात् पराम्
अष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा।
आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजाम्
अन्तः स्थितो येन भवन्त्यदुःखाः ॥भागवत।
(६।२१।१२)

मैं परमेश्वर से परागति, अष्टसिद्धि या अपुनर्भव निर्वाण की प्रार्थना नहीं करता। केवल ऐसा हो कि मैं सब जीवों के भीतर रहकर उनके सारे दुःख पाऊँ और वे दुःख से मुक्त हों।

इसी विश्वमैत्री के ढंग की वाणी हमें महाप्रभु चैतन्य के समय (१४८५-१५३३ ई०) में भी सुनने को मिलती है। एक बार भक्त-वर वासुदेव दत्त ने महाप्रभु से निवेदन किया—

जगत तारिते प्रभु तोमार अवतार।
मोर निवेदन एक कर अङ्गिकार।
करिते समर्थ तुमि हओ दयामय।
तुमि मन कर यदि अनायासे हय ॥
जीवेरदुःख देखि मोर हृदय विदरे।
सर्व जीवेर पाप प्रभु देह मम शिरे ॥
जीवेरे पाप लआ मुञिकरि नरक भोग।
सकल जीवेर प्रभु घुचाओ भव रोग।
(मध्यलीला १५७ परिच्छेद)

हे प्रभो, संसार को तारने के लिए तुम्हारा अवतार हुआ है, एक मेरा भी निवेदन अंगीकार करो। हे दयामय, तुम समर्थ हो, यदि चाहो तो यह बात अनायास ही हो सकती है। जीवों का दुःख देखकर मेरा हृदय फटा जाता है, हे प्रभो, सब जीवों का पाप मेरे सिर ढाल दो। ऐसा करो कि मैं सर्व जीवों का पाप लेकर नरक भोग करूँ। हे प्रभो, इस प्रकार समस्त जीवों का भव रोग दूर करो।

आज सर्व जगत् के निखिल जीव-गण के लिए हम लोग मैत्री की महावाणी 'मेत्तभावना' का उच्चारण करके उसे सार्थक करें। आज जगत् के समस्त शान्तिकामी दुःखार्त जीवों का निमंत्रण है। सारा जगत् आकर सुने, भारत में भगवान् बुद्ध द्वारा उपदिष्ट समस्त दुःखों की औषधि मैत्री की वाणी उच्चरित हो रही है। सब लोगों की संकीर्णता, भेद-बुद्धि हिंसा और द्वेष यहाँ से दूर हों।

"सब्बे सत्ता सुखिता होन्तु, अवेरा होन्तु, अब्यापज्झा होन्तु, अनीघा होन्तु सुखी अत्तानं परिहरन्तु। (मेत्तभावना)

जगत् के सब जीव सुखी हों, अवैर हों, अवध्य हों, अहिंसा के अनुयायी हों, सभी सुखी होकर काल-यापन करें।

"करणीय मेत्तसुत्त" में सबसे बड़ी मैत्री की बात कही गयी है—

"ये केचि पाणभूतत्थि, तसा वा थावरा वा अनवसेसा।
दीघा वा ये महन्ता वा, मज्झिमा रस्सक अणुकथूला ॥४॥
दिट्ठावा ये च अदिट्ठा, येच दूरे वसन्ति अविदूरे।
भूतावा सम्भवेसी वा, सब्बे सत्ता भवन्तु सुखितत्ता" ॥५॥

(सुत्तनिपात, उरगवग्ग, ८म सुत्त)

सबल हो या दुर्बल, दीर्घ हो या ह्रस्व, महान् हो, मध्यम हो, या क्षुद्र, अणु हो या स्थूल। दृष्ट हो या अदृष्ट, दूरवासी हो या अदूरवासी, भूत हो या भावी, जो प्राणी हों वे सभी सुखी हों।

"माता यथा नियं पुत्तं, आयुसा एकपुत्तमनुरक्खे ।
एवम्पि सब्बभूतेसु मानसम्भावयेऽपरिमाणम् ॥७॥

माता जिस प्रकार अपना प्राण देकर भी अपने एकलौते पुत्र की रक्षा करती है, उसी प्रकार समस्त प्राणियों के प्रति मन में अपरिमित दया का भाव जगाना चाहिए।

मेत्तञ्च सर्वलोकस्मिं, मानसंभावयेऽपरिमणाम् ।
उद्धं अधो च तिरियञ्च, असम्बाधं अवेरमसपत्तम् ॥८॥

संसार के ऊपर नीचे और चारों ओर सारे संसार के प्रतिहिंसा और शत्रुता-रहित चित्त से अप्रमेय मैत्री का भाव पोषण करना चाहिए।

तिट्ठं चरं निसिन्नो वा, सयानो वा यावतस्स विगतमिद्धो !
एतं सतिं अधिट्ठेय्य ब्रह्ममेतं विहारमिधमाहु ॥९॥

खड़े खड़े, चलते-चलते, बैठते-बैठते, सोते-सोते, जब तक निद्रित न हो जाय तब तक इसी प्रकार की मैत्री भावना में स्थिर रहना चाहिए। बौद्ध धर्म में इसी को ब्रह्म विहार कहते हैं।

जब तक भारतवर्ष में ये महावाणियाँ उच्चारित होती रहीं, तब तक भगवान् सम्यक् संबुद्ध हम लोगों में जीवित थे, तब तक हमारे गौरव का दिन था। उस समय हमारी दृष्टि उदार थी, भाव उच्च थे, साधना पवित्र और विशाल थी।

आज हमारी दुर्गति का पार नहीं। जिस दिन से भगवान् तथागत् की साधना हम में से जाती रही है उसी दिन से हमारा चित्त संकीर्ण हो गया है; साधना अनुदार हो गयी है, हृदय अपवित्र, नीच और मलिन हो गया है। भेद-बुद्धि, हिंसा, क्षुद्रता और मत्सरता से चित्त जर्जर हो गया है।

महाप्रवाहा नदी जब किसी देश से हट जाती है तो जिस प्रकार उस देश की उर्वरता, उसका स्वास्थ्य और उसका प्राण सब क्षीण हो जाता है उसी प्रकार हमारी दशा हो गयी है।

हमारे इस देश में, जहाँ आध्यात्मिक प्राण और आध्यात्मिक स्वास्थ्य नष्ट हो गया है, महाप्रवाहा नदी के समान भगवान् बुद्ध की साधना-धारा पुनः प्रवर्तित हो, देश नवीन प्राण, तथा नवीन स्वास्थ्य और नवीन शक्ति को पाकर फिर से जाग उठे।

जब दुर्गति की चरम सीमा होती है तभी तथागत् के आविर्भाव के योग्य समय होता है। आज दुःख, दुर्गति, मिथ्याचार और संकीर्णता के कारण उनके अवतार-योग्य युग उपस्थित है। उनका जीवन और उनकी वाणी हम लोगों में पुनर्वार आविर्भूत हो। भारतवर्ष में फिर से ब्रह्म-बिहार प्रतिष्ठित हों।

मध्ययुग के सन्तों की सहज-साधना

कबीर, दादू इत्यादि के मत से साधना सहज होनी चाहिए। प्रतिदिन के जीवन के साथ चरम-साधना का कोई विरोध न होना चाहिए। आज की वैज्ञानिक भाषा में अगर कहना हो तो इस प्रकार कह सकते हैं—पृथ्वी जिस प्रकार अपने केन्द्र के चारों ओर घूमती हुई अपनी दैनिक गति सम्पन्न करती है और यही गति उसे सूर्य के चारों ओर वृहत्तर वार्षिक गति के मार्ग में अग्रसर कर देती है इसी प्रकार दैनिक जीवन शाश्वत जीवन को सहज ही अग्रसर कर देगा। सूर्य के चारों ओर वार्षिक गति के मार्ग में उसे खूब अच्छी तरह चलना है, यही सोचकर पृथ्वी यदि अपनी गति बन्द कर दे तो उसकी सब गति ही समूल नष्ट हो जाय!

दैनिक गति के साथ शाश्वत गति का जो यह सहज योग है उसी को ये सन्त 'सहज पंथ' कहते हैं। नदी के भीतर इन दोनों जीवनों का पूर्ण सामञ्जस्य है। नदी प्रति दंड, प्रति पल अपने दोनों किनारों पर अगणित कार्य करती चलती है और साथ-ही-साथ अपने को असीम समुद्र में निरन्तर निमज्जित कर रही है। उसका दंड-पल-गत जीवन उसके शाश्वत जीवन के साथ सहज योग से युक्त है। इसमें से एक को छोड़ने से दूसरा निराश हो जाता है। इसीलिए भक्त कबीर ने कहा है, 'संसार और गृहस्थ जीवन को छोड़कर साधना नहीं हो सकती है। साधना में किसी प्रकार की 'ऐंचा-तानी' अर्थात् खींच-तान नहीं है। साधना में दैनिक और नित्य लक्ष्य में कोई विरोध नहीं है।'

कबीर ने यह सत्य समझा था, इसीलिए संन्यासियों के शिरोमणि होकर भी वे गृहस्थ थे। दादू भी वैसे ही थे। कबीर की वाणी में सहज-

धर्म के सम्बन्ध में अनेक बातें भरी पड़ी हैं। इन संतों के मत से सहज-पंथ ही सत्यपथ है। भक्त सुन्दरदास ने अपने 'सहज आनन्द' ग्रंथ में लिखा है—

> सहज निरंजन सब में सोई। सहजै सन्त मिलै सब कोई॥
> सहजै शंकर लागे सेवा। सहजै सनकादिक गुरु देवा॥
> सोजा पीपा सहज समाना। सोना धना सहजै रस पाना॥
> जन रैदास सहज को बंदा। गुरु दादू सहजै आनन्दा॥

इस मत में हिन्दू-मुसलमान सम्प्रदायों में प्रसिद्ध बाह्य-आचार और नियम केवल व्यर्थ क आडम्बर हैं। इन सब बाह्य प्रक्रियाओं को छोड़कर आत्मा और परमात्मा के नित्य सहज योग में ही नित्य सहज ज्ञान और सहज आनन्द विराजमान है। नारद प्रभृति ऋषियों से लेकर कबीर, रैदास, दादू प्रभृति साधकों तक सभी सहजपंथ के साधक थे (सुन्दरसार १११)। इसीलिए दादू कहते हैं—नदी की तरह अपने को दैनिक और शाश्वत साधना के क्षेत्र में सहज ही छोड़ दो। साधना के लिए संसार के कृत्यों को बाधा देकर, रोककर शक्ति संचय करने न जाना क्योंकि ऐसा करने से वह कृत्रिम और मिथ्या हो जायगा। नदी की तरह सबको तृप्त करने के द्वारा ही नित्य सहज योग के आनन्द से भीतर ही भीतर पूर्ण हो उठो और परमानन्द लाभ करो। (दादू—माया के अंग १०५, १०६ साखी का सार-मर्म)

नाना प्रकार का कृत्रिम वेश बनाकर मनुष्य अपनी तपस्या दिखाना चाहता है। इसमें एक प्रकार की दीनता, वैराग्य और तपस्या प्रकट करने का भाव है। यह साधारण विलासिता से कहीं अधिक प्रचण्ड विलासिता है क्योंकि लोग समझते हैं कि इसमें सचमुच की दीनता और वैराग्य-साधना प्रगट हो रही है; किन्तु असल में उससे दीनता, वैराग्य और तपस्या का प्राणहीन, मोहपूर्ण आडम्बर ही प्रकट होता है। विलासिता के आनन्द से भी वह साधक को व्यर्थ के आडम्बर से भर देता है। साधक को वह दिन-पर-दिन व्यर्थ

बनाता है। इसीलिए वह और भी भयंकर है। इसीलिए दादू कहते हैं—नाना प्रकार का वेश बनाकर सभी अपने को दिखाना चाहते हैं। अपने आपको मिटाकर जो साधना होती है उस ओर कोई जाता ही नहीं—

> **सब दिखलावैं आपकूँ नाना भेख बनाइ ।**
> **आपा मेटन हरि-भजन तेहि दिशि कोई न जाइ ।।**
>
> **(दादू, भेख-अंग, ११ साखी)**

इस सम्बन्ध में दादू के शिष्य रज्जबजी ने बहुत अच्छा कहा है कि, 'योग के भीतर भी एक तरह का भोग रहता है और भोग के भीतर भी एक तरह का योग रह सकता है। इसीलिए कभी-कभी ऐसा होता है कि कोई-कोई तो वैराग्य में डूब मरता है और कोई गृहस्थ-जीवन में ही तर जाता है।

> **एक जोग में भोग है एक भोग में जोग ।**
> **एक बूड़हिं बैराग में इक तिरहिं सो गृह-भोग ।'**
>
> **(माया मधि-मुक्ति अंग ४)**

भगवान् नित्य निरंतर विश्व-सेवा में निरत रहते हैं। उनके उद्यम का अन्त नहीं। मनुष्य के लिए कठिन यह है कि उद्यम करने जाकर वह यंत्र की तरह चलने लगता है, जड़ की भाँति अपने को अभ्यास के अचेतन मार्ग में छोड़ देता है। यदि इस जड़ता से जाग्रत रहकर मनुष्य नित्य सेवा-निरत भगवान के साथ रहता और उद्यम करता जाय तो फिर उद्यम ही धन्य हो जाय। इसी उपलक्ष में उनकी संगति मिल जाया करती है और जिस प्रकार उनका संग मिल जाय वही परम साधना है। दादू कहते हैं कि उद्यम यदि कोई सचमुच करना जाने तो उद्यम का कोई दोष नहीं। साईं के साथ रहकर यदि उद्यम किया जाय तब तो उस उद्यम में ही आनन्द है—

ऊदिम औगुन को नहिं जे करि जाणै कोइ ।
ऊदिम में आनन्द है जे साईं सेति होइ ॥
(दादु, बेसास अंग, १० साखी)

सब प्रकार का जागरण ही सहज और सत्य भाव से होना चाहिए। अनेक समय फललोभी मनुष्य अपना स्वरूप न समझकर ही दूसरों को जगाने के लोभ से केवल उपदेश सुनाकर सारे जगत् को अविलम्ब जगा देना चाहते हैं। आत्मोपलब्धि करने के लिए प्रतीक्षा करने की देरी यह सब आदमी नहीं सह सकते हैं। साधक लोग इन्हीं को 'काल-कृपण' कहते हैं। दादू कहते हैं—'एक अचरज यह देखा कि लोग आत्मतत्व को समझते नहीं, जाते हैं दूसरों को जगाने। ऐसा करके वे किस रास्ते जाते हैं ?' (दादू, गुरु अंग ११८ वीं साखी)

आत्मोपलब्धि तो हुई ही नहीं, लेकिन बात बनाने आ गए। दो-चार पद या साखी रचना कर ली गई और फिर मन में ऐसा अनुभव होने लगा कि संसार में मैं ही तो एक ज्ञानी आदमी हूँ—

दादू द्वै द्वै पद साखी भी द्वै चारि ;
हमको अनमय ऊपजी हम ज्ञानी संसारि ॥
(दादू, साँच को अंग, ६.साखी)

बहुतों के लिए यह रास्ता मृत्यु का रास्ता है, क्योंकि अपने विषय में अतिमात्र सचेतना साधक को समूल नष्ट कर देती है।

जो साधक सहज-पंथ में चलता है, वह स्वयं ही अच्छी तरह नहीं समझ पाता कि वह कितनी दूर तक अग्रसर हो चला है। परमात्मा में निमग्न होने के कारण वह अपनी बात भली-भाँति सोचने का अवसर ही नहीं पाता। अपने सम्बन्ध में 'अतिचेत' (over conscious) होना ही न होने का लक्षण है। सहज-पंथ के पथिक का लक्षण ही है—अपने विषय में अचेत रहना। आज के वैज्ञानिक युग में मनुष्य खूब अच्छी तरह जानता है कि पृथ्वी पर बैठ कर वह समझ

ही नहीं सकता कि प्रचण्ड वेग से वह अग्रसर हो रहा है । लेकिन बैलगाड़ी के आरोही को पद-पद पर अपनी गति के सम्बन्ध में सचेतन रहना पड़ता है । उस युग के साधना-मर्मज्ञ इस बात को जानते थे । दादू ने कहा है—मनुष्य जब उड़कर चलता है तो कहता है कि रास्ते में ही हूँ; (राहगीर होकर साधना के मार्ग में चल रहा हूँ;) हे दादू ! जो कहता है कि मैं पहुँच गया हूँ, मेरे ही रास्ते चलो, उसने कभी रास्ता देखा ही नहीं—

मानुष जब जड़ चालते कहते मारग माहिं ।
दादू पहुँचे पथ चल कहैं सो मारग नाहिं ।।

(दादू, उपज अग, १९ साखी)

ज्ञान की अपेक्षा अनुभव (realization) अधिक गंभीर बात है । जब किसी वस्तु को दूर रखकर, स्वातन्त्र्य को हटाए बिना ही देखा जाता है तब वह 'ज्ञान' होता है ; और अपने को किसी भाव में निमज्जित करके आनन्द-रस से मँज जाने को 'अनुभव' कहते हैं । 'ज्ञान' खूब सुनिर्दिष्ट सीमा में बँधा हुआ है इसीलिए अपने को शब्दों से प्रकाशित कर सकता है; किन्तु 'अनुभव' अपने आनन्द-रस में अपनी सीमा खो देता है इसीलिए अपने को शब्दों के द्वारा कुछ भी प्रकट नहीं कर पाता । अनुभव के अनिवर्चनीय भाव से अनिवर्चनीय संगति की सृष्टि होती है । भाषा वहाँ हार जाती है । इसीलिए दादू कहते हैं—ज्ञान-लहरी जहाँ से उठती है, वहीं वाणी का प्रकाश होता है । अनुभव जहाँ नित्य उत्पद्यमान है (जहाँ पर उसकी उत्पत्ति का विराम नहीं, बीज से वृक्ष की तरह उसका जीवन्त-विस्तार जहाँ निरन्तर चल रहा है) वहीं संगीत ने वास किया है—(दादू, परचा अंग, २६ साखी)

उन्हीं में डूबकर सहज होना होगा । हम लोग स्वयं समझ-बूझकर बोलने जायँगे, वही कृत्रिम हो जायगा । भगवान् के निकट अपने को मिटा देने पर हमारे भीतर से जब वे अन्तर के भाव ढाल देते हैं तभी

यथार्थ संगीत उत्पन्न होता है। वंशी जिस प्रकार अपने को सूनी करके ही उनके निश्वास को बजा देने का अवसर पाती है, उसी तरह साधक अपने भीतर की अहमिका को लोप करके ही अपने को उनके संगीत-प्रकाश का योग्य आधार बना देता है। दादू ने कहा—

'तुम कुछ रचना मत करो, तुम्हारे भीतर होकर ही चलने दो उनकी रचना। तभी सत्य साखी और सत्य संगीत होगा।'

उनके असीम आनन्द में डूबने पर उनको स्वतंत्र करके जानने का सुयोग खो देना पड़ता है, तब अपार आनन्द का अनुभव मिलता है। आनन्द के उस अनुभव का प्रकाश तो वाक्य से नहीं किया जा सकता।

प्रकाशहीन वही भाव दिन-रात तब मन को भाराक्रान्त किये रखता है। अन्तर के भीतर वह प्रकाशातीत अपार पूर्णता ही वेदना की तरह निरन्तर मन को व्यथित करती रहती है।

पारन देवैं अपना गोप गुंज मन माहिं।[1]

(दादू, हेरान अंग १३ साखी)

---

[1] **इसी व्यथा में संगीत का नित्य उत्स विराजमान है।**
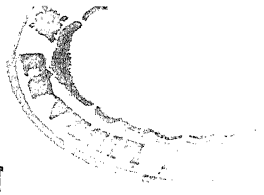
सहज और शून्य

धर्म की साधना में सहज का महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि साधना के सहज (स्वाभाविक) होने की अपेक्षा और कौन-सा बड़ा लक्ष्य हो सकता है ? रामानंद, कबीर, नानक प्रभृति सभी ने साधना के सहज होने की इच्छा की है। तब दुर्भाग्य क्रम से मनुष्य ने अपने निर्मल पवित्र मानव धर्म को भूलकर, अपने को पशुधर्मी समझ कर उस सहज भाव को ही मन में सहज की कल्पना की है। विशेषकर बंगाल में यह दुर्गति घटी है। स्वभावतः ही इस देश में 'सहज' और 'सहजिया' कहने से सबका मन विमुख हो उठता है। यह दुर्भाग्य की बात है कि सिर्फ प्रयोग एवं व्यवहार के दोष से इतना बड़ा एक सत्य हमारी धर्म-साधना से निर्वासित हो गया है। साधना के लिए इतनी बड़ी क्षति असहनीय है। जैसे भी हो, यह भ्रान्ति दूर होनी चाहिए अवश्य !

सहज कहने से कोई इन्द्रियोपभोग की धारा में अपने को अबाध गति से छोड़ देना समझते हैं, अथवा निश्चेष्ट भाव से अपने को कोई एक धारा में बहा देना समझते हैं। यह घोर तामसिकता है। सत्वगुण के द्वारा दिव्य होना होगा और उससे सर्वांश जीवन को दिव्य करना होगा जीवन का अल्प अंश ही हम लोग जानते हैं अधिकांश अजान ही है।

किन्तु जब तक हम लोग कामना-वासना के पाशविक जगत में हैं तब तक यह दुहाई देने से काम नहीं चलेगा। उतना ही दिन भीतर और बाहर से अपने को ले चलना होगा। आत्म-कल्याण एवं सर्वकल्याण के द्वारा अपने को नियमित करना होगा। जब इस कामना का पाशविक बन्धन मिट जायगा, जब जीव शिवभावापन्न

होगा, उसी समय अपने को उस विश्व चराचर व्यापी भागवत सहज धारा में छोड़ देने से काम चल सकता है। काठ को धारा में बहता हुआ देख कर यदि लोहा लघु न होकर भी जल में अपने को बहाए तब उसका नाम आत्मघात नहीं तो और क्या ?

उस सहज अवस्था में पहुँच जाने पर साधना केवल धर्म-कर्म एवं आचार और अनुष्ठान में बद्ध नहीं रह जाती है, उस समय सांसारिक जीवन-यात्रा से होकर ही एकबारगी साधना-क्षेत्र में प्रविष्ट होना चाहिए। उस समय हमारे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से निरन्तर सहज साधना चलेगी। उस समय उसके लिए कहीं भी खींचातानी नहीं रह जाएगी। साधना के लिए हमें अपनी जीवनयात्रा को ही सहज करनी होगी। जीवनयात्रा के सहज हो जाने पर बनावटी रूप में रोककर, संचित कर धर रखने में कुछ नहीं चलेगा, मिथ्या भी नहीं, झूठा भी नहीं ? जो कुछ आये उसे सबको वितरण कर एवं स्वयं संभोगकर अग्रसर होना होगा। पूर्ण नदी के प्रवाह की तरह पाई हुई सम्पत्ति को व्यवहार करना होगा। कारण, धारा की तरह जो आती जाती रहती है, वही माया है।

> "रोक न राखै झूठ न भाखै, दादू खरचै खाय।
> नदी पूर परवाह ज्यों माया आवै जाय॥"
>
> (माया अङ्ग, १०९)

माया का धर्म ही निरन्तर आना-जाना हुआ। आने पर माया का कोई दोष नहीं। उसे स्थायी नित्य वस्तु समझ कर धरते रखने जाने पर ही वह झूठी हो जाती है। उसे संचित न कर व्यवहार में लाना चाहिए। तभी उसमें कोई दोष नहीं दीख पड़ेगा। दोष उसी का, जो लोभवश उसे संचित करने जाता है।

मनुष्य के संग व्यवहार में भी इस सहज की ही साधना करनी होगी। "किसी के संग वाद-विवाद करने की आवश्यकता नहीं, संसार में रहकर भी निर्लिप्त होकर रहना चाहिए। अपने आप में ही

आत्म-विचार कर सहज के बीच स्वभाव से समदृष्टि की साधना कर रहना चाहिए।"

> **वाद विवाद काहू सौं नाहीं, माहिं जगत थैं न्यारा।**
> **समदृष्टि सुभाइ सहज मैं आपहि आप बिचारा॥**
>
> **(राग, गौड़ी शब्द ६६)**

इस समदृष्टि के नहीं होने पर व्यर्थ का वादविवाद भी मिटता नहीं, निर्लिप्त होकर चलता नहीं। आत्मा में ऐक्यबोध की उपलब्धि होने पर ही संसार में समदृष्टि घटती है। पहले अन्तर में एक की उपलब्धि करनी चाहिए। बाद में विश्वमय ऐक्य-बोध एवं समदृष्टि। अन्तर में ही सहज स्वरूप है। उस अनुपम तात्त्विक सौन्दर्य को देखकर मन मुग्ध हो जाता है। तभी दादू कहते हैं, "अन्तर की आँखों से अन्तर में ही हमेशा उस सहज स्वरूप को देख रहा हूँ। देखते जाने पर ही मन मुग्ध हो गया। अनुपम है वह तत्त्व। उस स्थान में भगवान् वास करते हैं, वहाँ सेवक और स्वामी एक साथ ही विराजते हैं। अन्तर में ही भय-रहित उस सुन्दर धाम को देख चुका, वहाँ सेवक और स्वामी योगयुक्त हैं। अनेक यत्न करके मैंने वहाँ अन्तर्यामी को पाया।"

> **"सेवक स्वामी संगि रहै, बैठे भगवाना।**
> **मधि नैन निरखौं सदा सो सहज स्वरूप।**
> **निर्भै स्थान सुहात सो तहँ सेवक स्वामी॥**
> **देखत ही मन मोहिया, है सो तत्त्व अनूप॥**
> **अनेक जतन करि पाइया मैं अन्तर जामी॥**
>
> **(राग रामकली, शब्द २०९)**

इस उपलब्धि को पाने के लिए केवल प्रेम की एकान्तिकता चाहिए। यहाँ बाह्य क्रिया-कर्म, साधना-सिद्धि अथवा उपाय की कोई सार्थकता नहीं। दादू कहते हैं—"मेरे लिए तप भी नहीं इन्द्रिय-निग्रह भी नहीं, तीर्थ-पर्य्यटन भी नहीं। देवालय पूजा ये सब भी

नहीं, ध्यान-धारणा भी कुछ नहीं। योग-युक्ति भी नहीं, और न साधना ही। मैं ये सब कुछ नहीं जानता हूँ। दादू एक भगवान् में लीन है। हे प्राण, उन्हीं से प्रत्यय करो। क्योंकि एकमात्र हरि ही मेरा अवलम्बन है। वे ही मेरे तारण-तरण हैं।"

"ना तप मेरे इन्द्री निग्रह ना कुछ तीरथ फिरनाँ।
देवल पूजा मेरे नाहीं ध्यान कछू नहीं धरणाँ॥
जोग जुगति कछू नहिं मेरे ना मैं साधन जानौं।
दादू एक गलित गोविन्द सो इहि विधि प्राण पतीजै॥
हरि केवल एक अधारा। सोइ तारण तिरण हमारा।

(राग आसावरी, २१६ शब्द)

बाहरी क्रिया-कर्म और अनुष्ठान से तो इस पान की बात नहीं कही जा सकती। तभी दादू कहते हैं—"घर में ही आश्रय मिला; सहज तत्व उसमें ही तो समाहित है। सद्गुरु ने उसका अनुसन्धान बता दिया।"

उसी अन्तर की साधना की ओर सभी लौटे। उन्होंने स्वयं अपने को दिखा दिया। महल का दरवाजा खोलकर उन्होंने ही स्थिर अचंचल स्थान को दिखा दिया।

इसे देखते ही, भय, भेद और समस्त भ्रम दूर भाग गए, मन उस सत्य में जाकर मिल गया। काया और स्थूल के अतीत धाम में जहाँ जीव जाता है, वहीं वह 'सहज' समाहित है।

यह सहज हमेशा स्थिर और निश्चल रहता है, कभी चंचल नहीं रहता। इस सहज से ही निखिल-विश्व पूर्ण रहता है। इसी में मेरा मन लगा है। इसके अतिरिक्त और कुछ भी (द्वैत तत्त्व) नहीं है।

उस घर को आदि अनन्त पाया, अब मन अन्यत्र नहीं जाना चाहता। दादू कहते हैं उसी एक रंग में रँग गया। उसी में मन समाहित हो गया।

भाई रे घर ही में घर पाया,
सहज समाइ रह्यो ता माहीं, सतगुरु खोज बताया ॥
ता घर काज सबै फिर आया, आपै आप लखाया ।
खोलि कपाट महल के दीन्हें फिर अस्थान दिखाया ॥
गयऊ भेद भर्म सब भागा, साच सोइ मन लागा ।
निहचल सदा चलै नहीं कबहूँ देख्या सब मैं सोई ॥
ताही सों मेरा मन लागा और न दूजा कोई ॥
आदि अनन्त सोई घर पाया इब मन अनत न जाई ।
दादू एक रंगै रङ्ग लाया तामैं रहा समाई ॥
(राग गौड़ी, ६८ शब्द)

अन्तर में जो ऐक्य है जो योग है, उसमें ही परमानन्द है । इसको प्राप्त करना ही यथाथ ज्ञान है । तभी दादू कहते हैं—"ज्ञानी मन ऐसे ही ज्ञान की बात कहो । इसी अन्तर में ही तो सहज आनन्द विराजमान है ।"

ऐसो ज्ञान कथौ मन ज्ञानी । इहि घरि होइ सहज सुख जानी ।
(राग गौड़ी, शब्द ६०)

यह घट के भीतर काया में योग की भी बात है । जिस तरह बाहर गंगा, यमुना और सरस्वती के योग से त्रिवेणी-संगम बना है, उसी तरह भीतर भी इडा, पिगला और सुषुम्ना के योग से त्रिवेणी योग होता है । किन्तु वह सब बात साधारण मनुष्य के लिए नहीं है, विशेषज्ञ को ही उससे आनन्द मिलता है । तभी यहाँ उसका उल्लेख करना मैंने अनुचित समझा ।

सबके ग्रहण करने लायक त्रिवेणी के मर्म को दादू नीचे लिखे शब्दों में अभिव्यक्त करते हैं । "सहजा आत्म-समर्पण, स्मरण और सेवा इन तीन के योग से ही यह त्रिवेणी संगम के किनारे स्नान करना चाहिए । यह तो सहज तीर्थ है ।"

सहज समर्पण सुमिरण सेवा, तिरवेणी तह संगम सपरा ॥
(राग गौड़ी, ६२)

इस मिश्रित धारा की सहज-त्रिवेणी में स्नान करने में ही मुक्ति है। किन्तु यह त्रिवेणी अन्तर में है बाहर में नहीं। तभी दादू कहते हैं :—

"त्रिकुटी का किनारा आत्मा में ही प्राप्त हुआ। सहज में ही उन्होंने अपने को प्रकाशित किया; सम्पूर्ण शरीर में वे व्याप्त हो रहे।

उस निरन्तर निराधार की उपलब्धि आत्मा में ही हुई, सहज में ही उन्होंने अपने को प्रकाशित किया; ऐसे ही वे समर्थ सार अर्थात् सामर्थ्यवान् हैं।

सभी देवों के देव को आत्मा में ही देखा, सहज में ही उस देवाधिदेव ने अपने को प्रकाशित किया, ऐसे ही वे अलख अनिर्वचनीय हैं।"

काया अन्तरि पाइया त्रिकुटी के रे तीर।
सहजै आप लखाइया व्याप्या सकल शरीर॥
काया अन्तरि पाइया निरन्तर निरधार।
सहजै आप लखाइया ऐसा समृथ सार॥
काया अन्तरि पाइया अनहद बेन बजाइ।
सहजै आप लखाइया सुन्य मण्डल मैं जाइ॥
काया अन्तरि पाइया सब देवन का देव।
सहजै आप लखाइया ऐसा अलख अभेव॥

(परचा अंग १०·१३)

अन्तस्तल में प्रवेश कर यह लीलारस संभोग करने जाने पर 'अहम्' भाव को क्षय करना होगा। 'अहम्' भाव को अकड़कर पकड़ रखने में उस सहज मूलाधारों को पाना कठिन है। दादू कहते हैं—

"अहम् को समूल नष्ट कर देने पर ही प्रियतम को पा सकोगे।

जिस विश्वमल विश्वाधार से अहम् की उत्पत्ति होती है वहीं से उस सहज को पहचान लेना चाहिए।

"मैं" "मेरा" इन सबको यदि लुप्त कर सको तो अभी तुम प्रियतम को पा सकोगे। "मैं" "मेरा" जब सहज में ही मिल जाता है तभी निर्मल दर्शन होता है।"

तौं तू पावै पीव कौं, आपा कछु न जान।
आपा जिस थैं उपजै सोइ सहज पिछान॥
तौ तू पावै पीव कौं मैं मेरा सब खोइ।
मैं मेरा सहजैं गया तब निर्मल दर्शन होइ॥

(जीवन मृतक कौ अंग १६, १७)

उस मूलाधार सहज को पाने जाने पर "नेति अस्ति" (negative-positive) दो प्रकार की साधना प्रयोजनीय है। इस "नेति" में से होकर ही "अस्ति" में पहुँचना पड़ता है। तभी दादू कहते हैं—"पहले शरीर और मन को मारना चाहिए, इनके अभिमान को चूर कर फेंकना चाहिए, तब अपने को बाहर लाना चाहिए; उसके बाद उस सहज में डूबना चाहिए।"

पहली तन मन मारिये इनका मर्दै मान।
दादू काढ़ै अंत मैं पीछे सहज समान॥

(जीवन मृतक को अंग, ४२)

जाग्रत मनुष्य जब सोता है उस समय जिस तरह उसका मन शरीर को छोड़ देता है, उसी तरह यदि दृष्ट जगत् का भी अतिक्रमण किया जाय, तब हमेशा ही सहज के संग ध्यान एवं लय को युक्त कर लाया जा सकता है।"

ज्यौं मन तजै शरीर कौं ज्यौं जागत सो जाइ।
दादू बिसरै देखतौं सहजै सदा ल्यौ लाइ॥

(लौ० को अंग, ३६)

"उस हरि-जल-नीर के समीप ज्योंही आया, उसी समय बिन्दु-बिन्दु से मिलकर सहज में समाहित हो गया।"

हरि जल नीर निकटि जब आया।
तब बून्द बून्द मिलि सहज समाया॥ (राग गौड़ी ६८)

सम्पूर्ण आकाश उस हरि-रस से भर गया। इस प्रेम-रस के सहज-रस का नशा निरन्तर चढ़ा रहता है। इस रस में रसिक मनुष्य सर्वदा ही असीम आकाश में बास करते हैं।

"प्रेम-प्याला का सहज-नशा आकाश के मध्य में नित्य वास करता है। हे दादू, जो इस के रसिक हैं वे इस रस में ही मत्त रहते हैं। राम-रसायन पीकर वह निरन्तर तृप्त और भरपूर रहता है।"

रहै निरन्तर गगन मंझारी। प्रेम पियाला सहज खुमारी।
दादू अमली इहि रस माते। राम रसायन पीवत छाके॥
(राग आसावरी, २३९)

इस नित्य सहज रस के जो रसिक हैं वह सब मलिनता का अतीत है। पाप उसे स्पर्श नहीं कर सकता। दादू कहते हैं—

"बाबा के कौन ऐसे योगी पुरुष हैं, जो अंजन छोड़कर निरंजन होकर रहता है, हमेशा सहज रस का वह भोगी?

पाप-पुण्य कभी भी उसे लिप्त नहीं कर सकता, दोनों पक्ष से ही वह अलग है। धरणी आकाश दोनों से ही वह ऊपर है, वहाँ जाकर वह रसलीला में रत हो जाता है।"

बाबा को ऐसा जन जोगी।
अंजन छाड़ै रहै निरंजन सहज सदा रस भोगी।
पाप पुंनि लिपै नहिं कबहूँ दोई पथ रहिता सोई॥
धरणि आकाश ताहि थैं ऊपरि, तहाँ जाइ रत होइ॥
(राग रामकली, २१०)

जहाँ पाप-पुण्य का द्वैत कुछ ही नहीं रहता, अखिल-निरंजन

स्वयं वहीं वास करते हैं। वहीं स्वामी सहज में विराजित रहते हैं, घट-घट में वह अन्तर्यामी व्याप्त है।"

> तहँ पाप पुंनि नहि कोई। तहँ अलख निरंजन सोई।
> तहँ सहजि रहै सो स्वामी। सब घटि अन्तरजामी॥
>
> (राग रामकली, २०८)

कामना और कल्पना के प्रिय और प्रेममय पूर्ण ब्रह्म हैं। दादू कहते हैं—

"कभी भी कल्पना और कामना नहीं करनी चाहिए, उस प्रियतम पूर्ण ब्रह्म की प्रत्यक्ष उपलब्धि करनी चाहिए। हे दादू, इस पथ से ही पहुँच कर किनारा पाकर उस सहज तत्त्व का आश्रय लेना।"

> काम कल्पना कदे न कीजै पूरण ब्रह्म पियारा।
> इहि पंथि पहुँचि पार गहि दादू, सो तत सहज सँभारा॥
>
> (राग गौड़ी, ६६)

कामना और कल्पना के परे, स्वच्छ नेत्र के बिना उस "रूपारूप" "गुणागुण" भगवान् की उपलब्धि नहीं की जा सकती। एक मात्र "सहज" ही इस लीला को प्रत्यक्ष कर सकता है। गुरु की तरह यह "सहज"........नहीं है;—प्रियतमा सखी की तरह वह अन्तरंग है। तभी दादू कहते हैं, "हे मेरी प्रिय सखी, सहज, तुम स्वच्छ आँखों से देखो, यह जो रूप-अरूप गुण-निर्गुणमय त्रिभुवनपति भगवान् हैं।"

> सहज सहेलड़ी हे तूं निर्मल नैन निहार।
> रूप अरूप गुण निर्गुण मैं त्रिभुवन देव मुरार॥
>
> (राग रामकली, २०७)

उन्हें देख लेना ही परमानन्द है, वही परम समाधि है। उन्हें देखने मात्र से ही पूर्ण ब्रह्म में समस्त ही सहज में समाहित हो जाते हैं। पूर्ण ब्रह्म में जो सहज समाधि है उस आनन्द की उपलब्धि होने पर भी वह अवर्णनीय है। दादू कहते हैं—

"स्थगित होकर मन हार गया, फिर भी तो कहा नहीं जा सकता। सहज में, समाधि में अपने को लीन करो। समुद्र के बीच में बिन्दु तोला ही जा सकता कैसे। स्वतः ही अबोल हो, क्या कहकर वर्णन कर सकोगे?"

थकित भयौ मन कह्यौ न जाइ। सहजि समाधि रह्यौ ल्यौ लाई॥
सागर बूँद कैसे करि तोलै। आप अबोल कहा करि बोलै॥

(राग आसावरी, २४४)

वर्णन नहीं हो सका तो नहीं, वह सहज ही परम आनन्द है। इस आनन्द में ही रसिक मनुष्य के जीवन का सार सर्वस्व है। दादू कहते हैं—

"अन्तस्तल में जो एक को रखते हैं, जो मन इन्द्रिय को प्रसार करने नहीं देते, सहज विचारों के आनन्द में जो डूबे रहते हैं, हे दादू वही तो महाविवेक है।"

सहज विचार सुख मैं रहे दादू बड़ा बमेक।
मन इन्द्री पसरैं नहीं अन्तरि राखै एक॥

(विचार को अङ्ग, ३१)

मन और इन्द्रिय का प्रसार वहाँ नहीं हो सकता। मिथ्या वहाँ पहुँच ही नहीं सकती। मिथ्या की समस्या ही वहाँ नहीं है।

"उस सत्य में मिथ्या पहुँच ही नहीं सकती। उस सत्य में कोई भी कलंक नहीं लग सकता। दादू कहते हैं, सत्य-सहज में (चित्त) यदि समाहित हो तब सभी झूठ विलीन हो जाता है।"

साचै झूठ न पूजै कबहूँ सत्तिन लाग काई।
दादू साचा सहजि समानां फिरि वै झूठ विलाई॥

(राग रामकली, १६१)

सत्य और मिथ्या का पाप और पुण्य का नैतिक बन्धन ही साधारणतः सभी को अभ्यस्त हो गया है। किन्तु वह नैतिक बन्धन अत्यंत संकीर्ण है, अति क्षीण और दुर्बल है। उसके बीच में नित्य धर्म ही

कहाँ ? जो सहज की मुक्ति है, उसमें एक ऐसा मुक्त सामञ्जस्य है जो नित्य है, जो सब कर्म बन्धनों के परे है।

"कर्म बन्धन के मिट जाने पर भी सहज का बन्धन कभी छूट नहीं सकता। बल्कि सहज के साथ बद्ध होने पर सब कर्म बन्धन कट जाता है। तभी सहज के साथ बद्ध होओ, सहज के बीच में ही भरपूर परिष्कृत होकर रहो।"

सहजैं बाँधी कदे न छूटै कर्मं बंधन छुटि जाइ।
काटै करम सहज सौं बाँधे सहजैं रहै समाई॥

(राग गौड़ी ७३)

निखिल सामंजस्य के मूल में विश्व सङ्गीत अंतर्हित है। इस सङ्गीत के योग के बीच ऐक्य का सामञ्जस्य है। निद्रा से अचेतना से वह भोग वह ऐक्य का सामञ्जस्य हो जाता है। क्षुद्रता और खण्डता के संकीर्ण मोह में ही सभी निद्रित हैं। उस संगीत को सुनकर ही शून्य सहज में सभी जाग पड़ते हैं। दादू कहते हैं—

"उस एक संगीत से ही मनुष्य का उद्धार हो जाता है, शून्य सहज में जाग उठता है, अन्तस्तल उसी एक के साथ लीन हो जाता है, उस समय उसके मुँह में और कोई सुरस अच्छा नहीं लगता। उस संगीत से भरपूर निमज्जित और समाहित होकर ही मनुष्य उस परमात्मा के सामने अवस्थित रहते हैं।"

एक सबद जन उधरे, सुनि सहजैं जागे।
अन्तरि राते एक सूं न सुख लागे॥
सबदि समाना सनमुख रहै पर आतम आगे॥

(राग रामकली १६७)

वह सहज शून्य विश्व संगीत से भरपूर है। यह भरपूर शून्य ही ब्रह्मशून्य हुआ। साधक जब उस ब्रह्मशून्य में पहुँचता है, तब और कोई जप-साधना की उसे आवश्यकता ही नहीं रह जाती। उस समय उसका "नख-शिख-जाप" अखिलछन्द के साथ-साथ निरन्तर हो

सहज हो चलने लगता है। उस समय की अवस्था का वर्णन करते हुए दादू कहते हैं—"ब्रह्म शून्य अध्यात्म धाम में तुम अवस्थित हो, प्राण कमल में नाम कहो, मन हवा के स्वर में नाम कहो, प्रेम ध्यानावस्था में (सुरति) नाम कहो।"

प्राण कमल मुखि नाम कह मन पवना मुख नाम।
दादू सुरति मुखि नाम कह ब्रह्म सुनि निज ठाम॥
(सुमिरन कौ अंग, ७८)

इस अखिल-छन्द के साथ छन्दमय होना ही सहज हुआ। उस साधना के लिए अपने को शान्त स्थिर और निर्मल करना चाहिये। उस साधना के प्रसंग में दादू कहते हैं—

"मन मानस प्रेमध्यान (सुरति) 'सबद' और पंच इन्द्रिय को स्थिर और शान्त करो। उनके साथ "एक अंग" "सदा संग" होकर सहज में ही सहज रस पान करो।

सर्व-रहित और मूल गृहीत होकर 'अहम्' को अस्वीकार करो। उस एक को ही मन में मानकर अन्तर के भाव और प्रेम को निर्मल करो।

उस परम-पूर्ण प्रकाश के होने पर हृदय शुद्ध होगा, बुद्धि विमल होगी, जिह्वा में (पर) अध्यात्म-रस नाम प्रत्यक्ष होकर अन्तस्तल को नाममय कर देगा।

परमात्मा में मति होगी, गति पूर्ण होगी, प्रेम में रति होगी, और भक्ति से अनुरक्ति होगी। (भक्ति में विश्वास होगा)। उस रस में दादू मगन हैं, उस रस में ही परस्पर लीन होकर दादू मतवाला बन गया है।"

मनसा मन सबद सुरति पाँचों थिर कीजै।
एक अंग सदा संग सहजै रस पीजै॥

सकल रहित मूल सहित आपा नहिं जानै।
अन्तर गति निर्म्मल मति येकै आनि मानै॥
(राग धनाश्री, ४३४ सबद—'त्रिपाठी')
हृदय सुधि विलस बुधि पूरन परकासै।
रसना निज नाउँ निरखि अन्तर गति बासै॥
आगम मति पूरण गति प्रेम भगति राता।
मगन गलत अरस परस दादू रसि माता॥
(राग भैरों, २० सबद 'द्विवेदी')

उनकी दया के बिना अन्तर की उपलब्धि असम्भव है। जीवन की वही परम सार्थकता है। उस अवस्था की उपलब्धि और प्रेम का वर्णन किया ही नहीं जा सकता। दादू कहते हैं—"अखण्ड अनन्त स्वरूप प्रियतम को किस तरह वर्णित किया जा सकता! शून्य मण्डल के बीच वह सत्य स्वरूप है, आँख भर लो उन्हें देखकर।

नेत्रसार उन्हें देख लो, देखो, वेही लोचन सार हैं। वेही प्रत्यक्ष दीप्यमान हो रहे हैं। ऐसे प्रेममय दयामय हैं कि वे सहज में ही अपने आपको प्रकाश में ला देते हैं।

जिनके समीप प्रत्यक्ष हैं, सहज में ही अपने आपको प्रेममय दया-मय कर लो। तभी तो प्राणों के प्राण प्रियतम का अखण्ड अनन्त स्वरूप की उपलब्धि हो सकती है।"

अकल स्वरूप पीव का, कैसैं करि आलेखिये।
शून्य मण्डल माहि साचा, नयन भरिसो देखिये॥
देखौ लोचन सखि, देखौ लोचन सार, सोई प्रकट होई॥
अकल सरूप पीव का, प्राण जीव का सोई जन पावई।
दयावन्त दयाल ऐसौ सहजैं आप लखवाई॥
(राग धनाश्री ४३६ सबद 'त्रिपाठी'।
राग भैरो २३ सबद—'द्विवेदी')।

उनकी उपलब्धि उस भीतरी संसार में होगी, अतिशय व्यर्थ वस्तु

से हमारा वह भीतरी संसार भरा है। तभी तो उन्हें प्रत्यक्ष करने का अवसर नहीं मिलता। उनके आविर्भाव के लिए ही हमें भीतरी संसार को शून्य करना चाहिए। यह शून्यता नेति धर्मात्मक नहीं है। कारण शून्य होने पर ही उनके सहस रस से भरपूर उनके भीतरी संसार को हम देखते हैं। इस रस सरोवर में ही आत्मकमल ब्रह्मकमल विकसित हो उठता है।

शून्य सरोवर के आत्म-कमल में परम पुरुष के प्रेम बिहार की उस अवस्था का वर्णन करते हुए दादू कहते हैं :—

"भगवान् उस आत्म कमल में प्रत्यक्ष विराजमान हैं। जिस स्थान में वह परम पुरुष विराजमान हैं उस स्थान में ज्योति झिलमिल-झिलमिल करती हैं।

कोमल कुसुमदल, निराकार ज्योति जल; शून्य सरोवर जहाँ है, वहाँ फूल किनारा नहीं रहता; हंस होकर दादू वहाँ विहार करते हैं और विलस-विलस कर अपनी सार्थकता पूर्ण करते हैं।"

सन्त साहित्य

पुराणों में एक सुन्दर कथा है। सती ने दक्ष-यज्ञ में जाकर जब शिव की निन्दा सुनी और प्राण त्याग कर दिया, तब विरही शिव उस शिवदेह को लेकर इस प्रकार मत्त हो उठे कि धरती रसातल जाने को तैयार हो गई। अन्य कोई उपाय न देखकर देवताओं ने नारायण की शरण ली। चक्री ने अपना चक्र सम्हाला और सती की देह को बावन भागों में विभक्त कर दिया।

प्राणहीन शवदेह का विच्छिन्न किया जाना समझा जा सकता है, किन्तु जीवित देह को विच्छिन्न करने की चेष्टा को मैं क्या नाम दूँ? किस नीच उद्देश्य से किस चक्री का चक्र ऐसे अमानुषिक कर्म में प्रवृत्त हो सकता है? आज देखता हूँ, न जाने किस चक्र से भारत के धर्म, साहित्य, संस्कृति इत्यादि को चारों ओर से विभक्त किया जा रहा है। इतना बड़ा अनाचार और सर्वनाश क्या और भी कुछ हो सकता है? धर्म को लेकर, भगवान् को लेकर, दलबन्दियाँ की जाती हैं, संघर्ष चलता है। व्यथित होकर, भगवान् को लक्ष्य करके, रवीन्द्र-नाथ ने कहा है—

> "तोमारे शतधा करि क्षुद्र करि दिया
> माटिते लुटाय यारा तृप्त सुप्त हिया
> समस्त धरिणी आज अवहेला भरे
> पा रेखे छे ताहादेर माथार ऊपरे।"

(नैवेद्य ९०)

—'तुम्हें सौ-सौ टुकड़ों में विभक्त करके, क्षुद्र करके, अपने सोये हुए हृदयों में तृप्ति लेकर, जो लोग पृथ्वी पर लोट-पोट हो (अपनी

भक्ति दिखाया करते हैं) आज सारी धरित्री ने अवहेला के साथ उनके माथे पर पैर रखा है।'

फिर कहते हैं—

"जे एक तरणी लक्ष लोकेर निर्भर
खण्ड खण्ड करि तारे तरिबे सागर।'

(नैवेद्य ४६)

—'जो एक नैया लाखों आदमियों का आधार है, उसे टुकड़े-टुकड़े करके क्या समुद्र पार करोगे?'

आज से लगभग ४०० वर्ष पहले भक्त दादू ने अत्यन्त दुख के साथ यही बात कही थी—

"खंड-खंड करि ब्रह्म को, पखि-पखि लिया बाँट,
दादू पूरण ब्रह्म तजि बँधे भरम की गाँठ।"

जिन दिनों रवीन्द्रनाथ ने उपर्युक्त कविता लिखी थी (१६०० और १६०२), उन दिनों वे तो क्या, बंगाल का कोई भी शिक्षित आदमी दादू की वाणी को जानता भी नहीं था। फिर भी दो भिन्न-भिन्न युगों के दो महापुरुषों की वाणी में स्वतः समुच्छ्वसित एक ही वेदना का व्यक्तरूप दृष्टिगोचर होता है।

सुलेमान बादशाह के पास दो स्त्रियाँ एक ही शिशु को लेकर झगड़ती हुई गईं। दोनों का ही कहना था कि वे उसकी माता हैं। सुलेमान बादशाह से उन्होंने न्याय की प्रार्थना की। गवाह नहीं, साक्षी नहीं। बादशाह ने कुछ सोचकर हुकम दिया—"लड़के को चीरकर दो खंड कर दो और एक-एक हिस्सा दोनों औरतों को दे दो।" नकली माता अविचलित रही, पर असली माता का हृदय काँप उठा। उसने कहा—"अपना हिस्सा मैं नहीं लूँगी; सारा लड़का बिना चीरे ही दूसरी को दे दिया जाय।" फिर तो यह समझते देर नहीं लगी कि कौन असली माता है। भारत के धर्म, संस्कृति आदि की भी ऐसी एक जीवित और अखंड सत्ता है, जिसके खंडित होने

की सम्भावना से सभी युगों के सत्यद्रष्टाओं का हृदय विदीर्ण हुआ है। इतनी शिक्षा-दीक्षा के होते हुए भी आजकल के शिक्षाभिमानी हम लोग उसी वेदना को अनुभव नहीं कर पाते, जब कि सैकड़ों वर्ष पहले निरक्षर साधकों के दल ने उस वेदना को तीव्र भाव मे अनुभव कर लिया था।

जिस प्रकार गंगा की धारा को पर्वत-प्रदेशीय, या उत्तरप्रदेशीय या बिहारी, या बंगाली कहना निरर्थक है, उसी प्रकार सत्य, धर्म और संस्कृति प्रभृति महासम्पद् भी अविच्छेद्य और सीमातीत है। गंगा जनहीन तुषार से विगलित हुई हैं, अन्यान्य प्रदेशवासी उन्हें केवल भोग करते हैं। पतित-पावनी सब प्रदेशों की मलिनता और तृष्णा शमनार्थ ही सहज धारा के रूप में द्रवित हुई हैं, उन्हें बाँटकर जो अपनी सम्पत्ति बनाना चाहता है, वही उन्हें खो देता है। वह परशुराम के समान मातृघाती है। उसके पापों का प्रायश्चित नहीं। जिस पृथ्वी पर हम वास कर रहे हैं, जिस आकाश के नीचे हमारा प्राण बसता है, जिन सूर्य, चन्द्र और ताराओं की सेवा से हम बचे हुए हैं, उन्हें अपनी-अपनी सम्पत्ति कहना क्या उचित है? इसीलिए जब दादू से कहा गया कि अगर तुम लोक-सेवा करना चाहते हो, तो किसी-न-किसी सम्प्रदाय में आबद्ध होकर ही कर सकते हो, तो दादू ने कहा—हे दयामय! तुम्हीं बताओ; यह धरित्री और यह आकाश, यह हवा और यह पानी, ये दिन और ये रातें, यह चाँद और यह सूरज–ये सब किस पंथ के मानने वाले हैं? ब्रह्मा, विष्णु और शिव के नाम से अगर पंथ खड़े हो सकते हों, तो बताओ गुरुदेव, ये स्वयं किस पंथ के माननेवाले हैं! तुम स्वामी हो, तुम सहज कर्ता हो, तुम अलख हो, तुम भेद और ज्ञान के अतीत हो, तुम्हीं इसका उत्तर दे सकते हो। हे एक अल्लाह, तुम्हीं से पूछता हूँ, बताओ तो भला, मुहम्मद का मजहब क्या था? जिब्राइल का पंथ कौन-सा था, इनके मुर्शिद और पीर कौन थे? ये सब किसके सम्प्रदाय में थे, किसकी

सम्पत्ति थे ? यह प्रश्न निरन्तर मेरे मन में उदय हुआ करता है, वह अलख इलाही ही एकमात्र जगद्गुरु हैं, संसार में और दूसरा तो कोई नहीं है—

"दादू ये सब किसके पन्थ में, धरती अरु असमान;
पानी पवन दिन रात का, चन्द सूर रहिमान।
ब्रह्मा विश्न महेस को, कौन पन्थ गुरुदेव;
साईं सिरजनहार तूँ कहिये अलख अभेव।
महमद किसके दीन में, जबराइल किस राह?
इनके मुरसिद पीर को कहिए एक अलाह।
दादू ये सब किसके ह्वै रहे यहु मेरे मन माँहि;
अलख इलाही जगद्गुरु दूजा कोई नाहिं।"

(१३, ११३-११६)

जिनके नाम पर इतने सम्प्रदाय चल खड़े हैं, इतनी मारा-मारी चल रही है, वे स्वयं किस पंथ के थे? न तो बुद्ध ही बौद्ध थे और न ईसा ईसाई। वे एक ही भगवान् के सेवक थे। वे सर्वकाल और सर्वदेश के मानव थे, इसीलिये वे सबके प्राणों के धन हैं। यदि हम उन्हें किसी दल-विशेष का आदमी कहें, तो दूसरा कोई उन्हें क्यों चाहेगा! जो धन सारे संसार का है, उसे सारे संसार के लिए छोड़ ही देना पड़ेगा।

वैष्णव लोग गोष्ठ-गान के प्रसंग में एक लीला का गान करते हैं। ब्रज के गोपाल-बाल नित्य ही यशोदा से कृष्ण को माँगते हैं; मा नित्य ही गोपाल को देने में आनाकानी करती हैं। बाउल भक्तों ने इस लीला में एक विश्व-सत्य का साक्षात्कार किया है। उनका कहना है—"श्रीकृष्ण (गोपाल) विश्व के धन हैं। जिसके घर उनका आविर्भाव हुआ है, वह उन्हें अपने समाज में सजाकर संसार को फिर से लौटा देने को बाध्य है। धोखा देकर उसे अपने लिए बन्द कर रखना असम्भव है। प्रत्येक व्यक्ति और जाति की साधना,

संस्कृति और साहित्य उसका 'गोपाल' है। सारा संसार उसके द्वार पर खड़ा हो उसे माँग रहा है। दिये बिना दूसरी गति नहीं, चाहे देने में जितना भी दुःख क्यों न हो।—

गोपाल के तोरे दिते हबे।
तोमर घरे एसे गोपाल हैल अपरूप।
दिले घर तोर धन्य हबे नैले अन्धकूप।
(तोमार प्राण-सागरे कमल-गोपाल फुटलो यारे चेये।
तारेइ यदि फिरास् मा गो कि फलि तुब पेये।
दिबि बलेइ पेलि मा गो गइतो दिबार निधि।
दुयार दिया राखि यदि केड़े निबे विधि।
जगतेर निधि बले दुर्लभ एइ धन।
तोर आपन घरेर निधि हैले चाहिबे वा कोन् जन?
देओया ये मरण मागो (सेइ) मरण तो मरण मरते हबे।
भय यदि हय मनेर माझे नेबार ये से केड़े नेबे।
दिते यदि पारिस मा गो दिबि हेसे-हेसे।
धन्य हबि यदि पारिस दिते भालो बेसे।
ना हय तोरे दिते हबे नयन जले भसे। तबु दिते०"

—'मा! तुझे गोपाल को देना पड़ेगा। तुम्हारे घर आकर (रूपातीत) गोपाल ने अपूर्व रूप धारण किया है। यदि तू उसे दे दे, तो घर धन्य हो जायगा; नहीं तो वह अन्धकूप होकर ही रहेगा। तुम्हारे प्राण-समुद्र में कमल-रूपी गोपाल जिसे देखकर खिला है, अगर उसे ही तुमने फिरा दिया, तो पाने का फल क्या हुआ? मा! तूने इसको इसीलिये पाया था कि दे सकोगी—यह तो देने की ही निधि है। यदि दरवाजा बन्द करके रखोगी, तो उसे ब्रह्मा ले लेगा। तुझे देना ही पड़ेगा। यह धन संसार की निधि है, इसीलिये दुर्लभ है। अगर यह तुम्हारे अपने घर की निधि होता, तो कौन इसे माँगता? मा! तुझे देना ही पड़ेगा। हाँ, मा, देना तो मरण है, और

तुम्हें मरना पड़ेगा ही। अगर तुम्हें भय हो, तो भी जिसे लेना है, वह तो ले ही लेगा। मा! अगर दे सको, तो हँस के दो, प्रेम के साथ दो—ऐसा कर सकी तो तुम धन्य होगी और नहीं तो आँखों के पानी में बहकर तुम्हें देना पड़ेगा, लेकिन मा, तुम्हें देना तो पड़ेगा ही।'

इन सब गोपालों पर संसार का दावा है, इसलिये उन्हें घर में बन्द कर रखने का उपाय नहीं। उन्हें अपने घर की निधि समझकर बन्द कर रखना अन्याय है। बुद्ध का जन्म मगध के उत्तर में एक पार्वत्य उपत्यका में हुआ। भारतवर्ष ने उन्हें चाहा, संसार ने उन्हें माँगा। देना पड़ा। फल यह हुआ कि आज वे प्रत्यक्ष भाव से सारी एशिया के और परोक्ष भाव से—ईसाई धर्म के भीतर से होकर—सारे संसार के धन हैं। तिब्बत की सेम्पाई ही भारतवर्ष का ब्रह्मपुत्र है। एक ही सत्य नाना नाम से नाना देशों में प्रवाहित हो रहा है।

उसी प्रकार मगध का जैन-धर्म, पूर्वतर देश के योगी नाथ-पंथ आज दूर-दूर तक फैल गये हैं। मजा यह है कि इन्हीं सार्वदेशिक सत्यों के नाम पर उनके अनुयायियों ने सम्प्रदाय खड़ा कर रखा है, उनकी वाणियों को बन्द कर रखा है, पर अगर संसार गोपाल को माँगने आवे, तो उसे रोकेगा कौन ?

भक्त कमाल ने कहा है—"महापुरुष मानव-साधना की 'बारात' ले जाने के लिए आते हैं। वे यदि सबको निद्रित देखते हैं, तो वज्र के आघात से सबको जगा देते हैं और उनके हाथ में जलता हुआ अग्नि-शिख मसाल दे देते हैं। उनके मंत्र और वाणियाँ ही ये मसाल हैं। इन ज्वलन्त अग्निमयी वाणियों को कोई भंडार में संग्रह तो कर नहीं सकता, इसीलिये उनके निर्जीव अनुयायी आग बुझा बुझाकर इन मसालों के बुझे हुए लुकाड़ों का संग्रह करते हैं। इनमें न तो वह तेज रहता है, न प्रकाश।

"सम्प्रदाय सत्यद्रष्टा महापुरुषों का क़ब्रिस्तान है। चेला लोग मानो उस स्थान पर गुरु के नाम पर संगमर्मर की अट्टालिका खड़ा

करना चाहते हैं। अगर गुरु न भी मरे हों, तो भी ये लोग उनको और उनके सत्य को बध करके इस अट्टालिका को खड़ा करेंगे, यही सम्प्रदाय है।

"जीवन में गुरु की आग को ग्रहण करो। बुझे हुए मसाल और अग्नि के उच्छिष्ट को मत संग्रह करो। गुरु का बध करके सम्प्रदाय की अट्टालिका-निर्माण का लोभ छोड़ो।"

इसीलिये कमाल ने कबीर के नाम पर सम्प्रदाय चलाने की बात का समर्थन नहीं किया। जिसने आजीवन सम्प्रदायवाद के विरुद्ध लड़ाई की, उसके पवित्र नाम के साथ सम्प्रदाय खड़ा करना उन्हें अनुचित जान पड़ा। सम्प्रदाय के पक्षपाती जनसाधारण के मुख से तभी से कमाल के प्रति यह धिक्कार वाक्य चला आ रहा है—"बूड़ा वंश कबीर का उपजा पूत कमाल।"

महापुरुषों की भूख बड़ी विकट होती है। संसार की कोई भी साधना उनके निकट दुष्पाच्य नहीं। गरुड़ ने जन्म ग्रहण करते ही अपनी विकट भूख से विनता को चकित कर दिया। उस दिन विनता ने समझा था कि बहुत दिनों के प्रत्याशित महासत्य ने जन्म ग्रहण किया है। महाप्रभु चैतन्यदेव की साधना बंगाल तक सीमित न रह सकी। उन्हें दक्षिण की भक्ति-धारा का सन्धान मिला, और वे उधर ही दौड़ पड़े। राममोहन की साधना की भूख ने हिन्दू और मुसलमान धर्म तक ही अपने को सीमित नहीं रखा। सत्य अनुसन्धान में उन्होंने सागरों और पर्वतों की बाधा नहीं मानी। दादू ने अपनी विकट बुभुक्षा का परिचय इस प्रकार दिया है—

"पवना पानी सब पिया धरती अरु आकाश
चन्द सूर पावक मिले चोसों एक गरास
चौदह तीन्यूं लोक सब चूंगों सासैं साँस।" (२-३२-३३)

जिन दिनों महाप्रभु चैतन्यदेव अपने अगाध शास्त्र-ज्ञान को पानी में फेंककर भारतवर्ष घूमने के लिए निकल पड़े थे, उन्हीं दिनों

की पूर्व बंग के श्रीहट नगरवाले साधक जगमोहन और उनके शिष्य रामकृष्ण की भ्रमण-कहानी सुनकर विस्मित होना पड़ता है। कबीर और नानक का देश-देशान्तर-भ्रमण हमें भलीभाँति जानना चाहिए। नानक के बग़दाद जाने का लिखित प्रमाण हाल ही में पाया गया है।

उनकी इस परिक्रमा में किसी दम्भ या अहंकार का लेश भी नहीं था। राजा या सम्राट की तरह दूसरे को पराजित और अपमानित करके वे अपनी विजयपताका उड़ाना नहीं चाहते थे। उन्होंने ऊँच-नीच सबसे मिलकर, सत्य का दान करके और ग्रहण करके साधना की 'चटाई बुनी' है। ताने और बाने को परस्पर युक्त करके उन्होंने मानव-साधना की लाज बचाई है। जगत् के अन्यान्य नाना प्रकार के उत्पातों के समान उन्होंने अपनी आध्यात्मिक साम्राज्यवादी आतंक से दुःख जर्जर मानवसमाज को और भी जर्जरित नहीं किया। वे अगर ऐसा करते, तो उन्हें तैमूरलंग और नादिरशाह की श्रेणी से हम अलग न करते—भले ही वे ऊँची ऊँची बोलियाँ बोलते रहते। उनके अनुवर्तीगण संसार में चाहे जितना उपद्रव क्यों न करें, किसी सत्य-साधना के उपयुक्त वे नहीं हैं।

सत्य और धर्म दान करते समय इन महापुरुषों ने किसी के सम्मान को चोट नहीं पहुँचाई, क्योंकि वे ठीक जानते थे कि आघात और असम्मान से उन्हें कोई लाभ नहीं था। कारण, सत्य की साधना में पराजित आत्म-सम्मानहीन क्षुद्र प्राणों को कोई स्थान ही नहीं। क्लीव शिखण्डियों का दल लेकर वे कौन-सी साधना की लड़ाई लड़ते?

हिन्दी-भाषा को यदि आप सचमुच सभ्य संसार में आदरणीय पद दिलाना चाहते हैं, तो गंभीर साधना द्वारा उसके भाव और ऐश्वर्य की वृद्धि के लिए तैयार हो जाइये। आज हिन्दी के लिए जो सुविधाएँ और सौभाग्य प्राप्त हैं, कल वे नहीं भी रह सकते।

इसीलिये आपको ऐसी साधना करनी चाहिए कि बाहर के किसी परिवर्तन से इस भाषा का आसन कहीं भी विचलित न हो।

कोई-कोई ऐसा विचार रखते हैं कि बँगला-भाषा में एक बार कुछ ऐसी राष्ट्रीय भावनाएँ एकत्र हो गई थीं कि उन दिनों भारतवर्ष के भाग्यविधाताओं को वह रुचिकर न हुई। इसीलिये उसी समय बंगाल को पूर्वी और पश्चिमी बंगाल के नाम से दो हिस्सों में बाँटा गया। लोगों के प्रतिवाद करने पर जब ऐसा करना असम्भव हुआ, तो नाना उपाय से बिहार में, उड़ीसा में, असम में बंगाल का शरीर काट-काटकर छिन्न-विच्छिन्न कर दिया गया। साथ-ही-साथ बंगाल-खास में भी मुसलमानी बंगला का एक नया दावा उपस्थित किया गया। बंगला में कहावत मशहूर है कि 'उपले जलते हैं, गोबर हँसता है!' बंगाल की इस दुर्गति को देखकर आपको भी सावधान हो जाना चाहिए। आपके साहित्य में भी यदि इस प्रकार नाना प्रकार के राजनियन्ता लोगों को असुविधा में डालनेवाले भाव पैदा होने लगेंगे, तो आप देखेंगे कि बिहार-मिथिला के लिए अलग-अलग भाषा की जरूरत होने लगेगी, राजपूत-डिंगल अलग भाषा क़रार दी जाने लगेगी, अवधी, बुन्देलखंडी, पूर्विया—सब अलग-अलग होना चाहने लगेंगी!—उसी प्रकार, जिस प्रकार विपद् उपस्थित होने पर बड़े परिवार के सभी व्यक्ति अपना अलग संसार बसाना चाहने लगते हैं। इसीलिये समय रहते ही सचेत होकर इस भाषा को ऐसा समृद्ध बनाइए कि किसी दिन भाषा का क्षेत्र-फल संकीर्ण होने पर भी उसकी प्रतिष्ठा गम्भीरतर होती रहे, किसी प्रकार उसका 'योगासन' हिलने न पावे।

आज भारतवर्ष में राष्ट्रीय एकता का ज्ञान जाग्रत हुआ है, इसीलिये एक भाषा की ज़रूरत हुई है। इस ज़रूरत को हिन्दी ही मिटा सकती है, यह बहुत लोगों का मत है, इसीलिये उसका भाग्य आज सुप्रसन्न है; पर यह भूलने से काम नहीं चलेगा कि राष्ट्रीय

मतामत और प्रयोजन बार-बार बदलते रहते हैं, उनपर निर्भर करके निश्चिन्त होना बुद्धिमत्ता नहीं। इसीलिये सतर्क भाव से साहित्यिक साधना के लिए तैयार हो जाइये।

याद रखिये, जो लोग केवल जन-संख्या के हिसाब से दावा उपस्थित करते हैं, उनके दावे में सचाई का अंश कम होता है। आज नौकरी के बाज़ार में कौंसिलों में, सर्वत्र इसका परिचय मिल रहा है, क्योंकि सर्वत्र योग्यता की अपेक्षा संख्या का ही दावा अधिक है। साहित्य के क्षेत्र में क्या इस संख्या के दावे का खोखलापन अनुभव नहीं किया जायगा? जन-संख्या के कारण अगर भाषा की प्रमुखता होती, तो चीन की भाषा आज जगत् की भाषा होती! ग्रीक संख्या में कितने थे? और उनकी स्वाधीनता ही कै दिन टिकी रही? तथापि वह ग्रीक साहित्य अमर है। भविष्य में भी मृत्यु नहीं होगी। साहित्य की साधना में उन्होंने ऐसी कीर्ति रख छोड़ी है कि वह चिर-दिन मर्त्यलोक को अमृत परोसा करेगी।

समस्त संसार में एक साधारण भाषा चलाने के लिए Esparanto भाषा का जन्म हुआ है। उसमें क्या किसी बड़े साहित्य का निर्माण हुआ है? अनेक समय देखा जाता है कि भाषा-सम्बन्धी जय-यात्रा के पताकाधारी पैदल सेना का दल भूल ही जाता है कि साहित्य को साधना के बिना प्रतिष्ठित करना व्यर्थ की विडम्बना है। इन सब अयोग्य और साधनाहीन साहित्यिक सेवकों का विपुल भार इस साहित्य को और भी ले डूबता है।

मैंने जिन साधुओं की वाणी लेकर काम किया है, वे केवल हिन्दी या किसी अन्य प्रदेश के नहीं हैं। सारे भारतवर्ष को लेकर उनकी साधना थी, उसे ही लेकर उनका जीवन था। प्रदेश और भाषा की संकीर्ण बाधा उन्हें बाँध नहीं सकी। असल में गम्भीरतम आध्यात्मिक भावों के लिए कोई भाषा ही नहीं है। मौन की असीमता से ही उन्होंने भाव के अपरिसीम सौन्दर्य का परिचय दिया है। इसके

सिवा भाषा उनके सामने गौण है, भाव ही मुख्य है। भाषा केवल भाव-स्थापना का आधार-भर है इसीलिये एक देश के सन्तों का भाव अन्य देश के सन्तों के उपयोगी करने में कोई असुविधा नहीं। केवल अनुवाद से ही—एक आधार से उठाकर दूसरे पर रखने भर से ही—काम चल जाता है। उनके भीतर का भाव सार्वभौम है। विशेष-विशेष कर्मकाण्ड और साम्प्रदायिक भावों पर ही जिन धर्मों की प्रतिष्ठा है, उनमें यह सार्वभौमता नहीं है अर्थात् इन सब धर्मों के भावों का अनुवाद करना निष्फल है।

जब कोई एक विराट भाव-धारा एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश पर बह चलती है, तब वह धारा ही सर्वप्रदेशों में योग—ऐक्य—के सूत्र का काम करती है। उस समय देखा जाता है—

"एकि आकाश घटे-घटे एकि गंगा घाटे-घाटे।"—अर्थात् एक ही आकाश घट-घट में व्याप्त है और एक ही गंगा प्रति घाट पर है। इस गंगा को कोई बाँधकर अपना नहीं बना सकता; पर जब गंगा की धारा मर जाती है, उस समय गाँव के नीचे असंख्य गड्ढों और तालाबों में उसका खण्ड-खण्डमात्र देखा जाता है। बंगाल में इस प्रकार की गंगाओं में से किसी का नाम होता है 'घोष बाबू-की गंगा', किसी का नाम होता है 'बोस बाबू की गंगा' और कोई हुई 'मोहन की गंगा' और कोई 'सोहन की गंगा' इत्यादि। यह सब भेदवाचक नाम तभी सम्भव होते हैं, जब एक भाव की धारा मर चुकी होती है। फिर कभी अगर भाव की बाढ़ आवे, सुदिन पाकर यदि भाव की धारा फिर जाग पड़े, तो सारा भेद-विभेद न जाने कहाँ बह जाता है।

इसके बाद हिन्दी का प्रसार यदि दिन-दिन बढ़े, तो भारत की सभी भाषाओं के साथ उसका योग और ऐक्य और भी दृढ़ करना होगा। यह याद रखना होगा कि इसके द्वारा हम कहीं अन्यान्य प्रादेशिक भाषाओं को वृथा आघात न करें। कारण, अन्य सब भाषाओं को मारकर अगर केवल एक महाकाय भाषा की स्थापना

की जाय, तो उससे भारत की सांस्कृतिक और साहित्यिक सम्पत्ति को कोई लाभ नहीं पहुँचेगा। यूरोप में मध्य-युग में जब अन्यान्य प्रादेशिक भाषाओं को दबाकर केवल एक लैटिन का ही राजत्व था, उन दिनों यूरोप की दारुण दुर्गति हो रही थी। वह एक अन्धकार का युग—Dark age—था। जिस दिन यूरोप के प्रदेश में अपनी-अपनी भाषाएँ जग उठीं, उसी दिन यूरोप के साहित्य ज्ञान-विज्ञान सब में एक नये युग का आविर्भाव हुआ।

भाषा की यह समस्या संसार में नई नहीं है। हर एक युग में यह समस्या रही है। महाप्राण साधकों ने जिस प्रकार इस समस्या का समाधान किया है, उसे कभी भूलना न चाहिए।

संस्कृत और प्राकृत में भेद यह है कि संस्कृत व्याकरणादि नियमों से सुसम्बद्ध है, इसीलिये उसका एक चिरन्तन स्थिर रूप है; लेकिन प्राकृत स्थान-काल-पात्र के भेद के अनुसार नित्य ही परिवर्तित होती हुई चली है। जब बुद्ध आदि महापुरुष शाश्वत काल के लिए अपने अमूल्य उपदेश देने लगे, तो सवाल यह हुआ कि यह रखा जाय किस आधार पर—संस्कृत पर या प्राकृत पर?

सभी रत्नों को लोग लोहे की सन्दूकों में भरकर रखते हैं। जल में बही हुई केले की डोंगी पर रत्न बहाया नहीं जा सकता, इसीलिए यह अनुमान किया जा सकता है कि उन महापुरुषों ने संस्कृत के ध्रुव आधार पर ही अपने रत्नों की रक्षा की बात सोची होगी। प्राकृत के अस्थिर आश्रय पर उसे बहा देना उन्हें पसन्द न हुआ होगा; लेकिन बात ऐसी नहीं हुई, क्योंकि उनका लक्ष्य था मानव। उपदेश की रक्षा और स्थिरता तो बड़ी बात नहीं है। उन्होंने देखा कि अगर ये उपदेश संस्कृत में लिखे जायँगे, तो वे सदैव मनुष्य से बहुत दूर रहेंगे, और प्राकृत में हुए तो मनुष्य इसे नित्य ही पाता रहेगा, इसीलिये बुद्ध, महावीर आदि महापुरुषों ने प्राकृत भाषा में ही अपने अमूल्य उपदेश सुनाये।

बुद्ध के प्रायः दो हज़ार वर्ष बाद महात्मा कबीर ने भी प्रायः वही बात कही—

'कबिरा संस्कृत कूप जल भाषा बहता नीर।'

कहा जा सकता है कि कबीर संस्कृत नहीं जानते थे, इसीलिये उन्हें यह बात कहनी पड़ी; किन्तु बुद्ध देव के लिए तो ऐसा नहीं कह सकते। वे तो 'सर्व भाषा और सर्व आगम में प्रवीण और सर्वशास्त्र में निष्णात' थे!

जमेलु और तेकुल नामक दो भाइयों ने भगवान् बुद्ध के पास जाकर प्रश्न किया—भगवान्, अपना-अपना नाम, जाति कुल के परिचय देकर अनेकों लोगों ने प्रव्रज्या ग्रहण की है। वे लोग अपनी कथ्य भाषाओं में बुद्ध-वाणी को विकृत कर रहे हैं, अतएव इन वाणियों को छन्द में रूपान्तरित करके रखा जाय।

भगवान् बोले—"तुम लोग कैसे मूढ़ हो, जो ऐसी बात कह सके। क्या इसी उपाय से लोगों का विश्वास या निष्ठा बढ़ेगी?" दोनों भाइयों की इस मूढ़ता के लिए तिरस्कार करके भगवान् तथागत ने कहा—"बुद्धगण की वाणी तुम लोग छन्द में न बदलना। ऐसा करने से वह दुष्कृत (दुक्कत) होगा। तुम सभी अपनी-अपनी बोलियों में बुद्धगण की वाणी सीखो।" (चुल्लवग्ग, ५, ३३, १)

वैदिक धर्म में कर्मकाण्ड की ही प्रधानता है। इसके बाद इस देश की नाना विधि चिन्ताओं के साथ वेदबाह्य नाना मतवादों के साथ योग और घात-प्रतिघात से उपनिषद् के युग में उसका ज्ञान-भाग भी क्रमशः बढ़ उठा। जितने दिन तक मनुष्य कर्मकाण्ड और साम्प्रदायिक ज्ञान से मुक्त नहीं होता, उतने दिन तक वह सर्वमानव के उपयुक्त नहीं होता। इसीलिए बाद में जब शैव, भागवत आदि धर्मों का आविर्भाव हुआ, तब भक्ति और भाव के योग सूत्र में मनुष्य-मनुष्य के भीतर का योगसूत्र दृढ़तर हुआ। परस्पर मिल सकने का मार्ग प्रशस्त हुआ। कर्मकाण्ड आदि व्यक्तिगत चीजें हैं! ये सम्प्रदाय

और सीमा में बद्ध हैं। इनके द्वारा बाहरी आदमियों से मिलना नहीं होता। भाव और भक्ति के सार्वभौम होने के कारण ही उसमें मिलन सम्भव है, इसीलिए भागवतों का उद्भव भारतवर्ष के लिए परम सौभाग्य की बात थी। जब तक ये लोग सहज थे। तब तक मिलन भी सुचारू रूप से हो रहा था। उन दिनों उन्होंने ब्राह्मण से भी भक्त चाण्डाल का स्थान ऊँचा बताया था—

"विप्राद् द्विषड्गुणयुता दरविन्दनाभ
पादरविन्द विमुखात् श्वपचं वरिष्ठम्।" (भागवत ७-१-१०)

किन्तु ज्योंही ये भागवतगण सुप्रतिष्ठ होकर नाना मतवाद, आचार और विचार के अर्थहीन जंजाल से भारग्रस्त हो गये, त्यों ही वे भी मनुष्यों के भीतर जो योग-साधना का महाव्रत था, उससे भ्रष्ट हुए। उसी समय धर्म-धर्म में, सम्प्रदाय-सम्प्रदाय में और मनुष्य-मनुष्य में योग-साधन के लिये सन्तों का अविर्भाव हुआ। इसी का नाम है मध्ययुग। दुःख की बात तो यह है कि सन्त लोगों को भी उन्हीं भागवतों से कम बाधा नहीं मिली।

हिन्दू जब अपना वेदादि शास्त्र लिये बैठा था और मुसलमान जब अपना कुरान और हदीस लिये अलग पड़ा था, उस समय कौन उन्हें युक्त करता? विश्व-सत्य के नाम पर दोनों में से कौन अपना-अपना दावा संयत करेगा? रज्जब ने ऐसे ही अवसर के लिए कहा गया है—जब तक तुम लोग अपने शुष्क काग़जों के दफ्तर की ही दुनिया समझे बैठे हो, तब तक तुम्हारे मिलने की कोई सम्भावना नहीं है। इससे तो अच्छा यह हो कि आँख खोलकर देखो, सारा विश्व ही वेद है और सारी सृष्टि ही क़ुरान। इस विश्व को ही अगर वेद और क़ुरान समझकर अपने-अपने दफ्तरों का मोह छोड़ो, तभी हंगामा मिटेगा; किन्तु दोनों दल के पंडित और काजी ऐसा होने नहीं देंगे, और अल्पबुद्धि और संकीर्ण मनोवृत्ति के दास लोग तो इन्हीं उत्तेजनाओं से नाचेंगे—

'रज्जब बसुधा वेद सब कुल आलम कुरान;
पंडित काजी बैथड़इ दफ्तर दुनिया जान।''

वैष्णव और शैव भक्तिवाद का मूल प्राचीन भागवत मत पर ही अवलम्बित है। उस भागवत मत के आदिस्थान की खबर हम लोगों को कम ही मिल सकी है। तब भी पांचरात्र प्रभृति की बात सभी जानते हैं। भागवतों का दावा है कि उनका मत वेद से अर्वाचीन नहीं है। अन्ततः वैदिक मत के साथ ही साथ हम भागवत मतवाद की धारा भी भारतीय इतिहास में देखते हैं। जो लोग वैदिक कर्म-कांड माना करते थे, उन्हें स्मार्त कहा जाता था और भक्ति मतवालों को भागवत। उन दिनों के सभा-उत्सव आदि में स्मार्त ब्राह्मण और भागवत दोनों को ही समान प्रतिष्ठा मिलती दिखाई देती है। 'उधर ब्राह्मण लोग बैठें, इधर भागवतगण—इतो ब्राह्मणा इतो भागवताः।''

जब तक ये भागवतगण हृदय के जीवित प्रेम और भक्ति द्वारा परिचालित होते थे, तब तक ये भी जीवित थे। उन दिनों इन्होंने ग्रीक, यवनादि कितने भक्तों को आत्मसात् किया था—इसका परिचय अनेक शिला लेखों में पाया जाता है। ईस्वी सन् के पूर्व की दूसरी शताब्दी में (144 P. C.) लिखित वेसनगर के एक शिलालेख से मालूम होता है कि तक्षशिलावासी दिवस के पुत्र भागवत हेलियोडोर की आज्ञा से देवदेव वासुदेव का गरुडध्वज रचयिता हुआ था—

"देवदेवस वासुदेवस गरुड़ध्वज अयं कारितो...हेलिऊ डोरेण भागवतेन दिपसत्रेण तखशीलकेन"...यद्यपि हेलियोडोर ग्रीक वंशी थे, तथापि उनके भागवत होने में कोई बाधा नहीं हुई।

काबुल और पंचनद के अधिपति कैडफाइस की जो मुद्रा मिलती है, उसमें उनका परिचय लिखा है—माहेश्वरस्य। अर्थात् वे महेश्वर के पूजक शैव थे। इनका राज्य सन् ८५ से १२० ई० तक के आस-पास था। गान्धरराज कनिष्क कुशानवंशीय थे। उनके उत्तराधिकारी हुविष्क भी वैसे ही थे; पर दोनों की मुद्रा में सूर्य देवता और देवी की

मूर्त्ति अंकित थी। इनके परवर्ती नृपति का नाम एकदम संस्कृत हो गया—वासुदेव कुशान ! इनका काल १८५ ई० के आस-पास है। उनकी मुद्रा में शिव और नन्दी अंकित हैं। अर्थात् जब तक वे सजीव थे, तब तक अन्य लोगों को ग्रहण करके अपना अंगीभूत कर लेने की शक्ति भी उनमें थी। क्रमशः प्राण-शक्ति के क्षीण होते ही उनकी परिपाक-शक्ति भी मन्द हो गई। क्रमशः यह वैष्णवादि धर्म चिर-संचित आचार-विचार और मतवाद से भाराक्रान्त हो उठा। इसके बाद ये लोग भी वेद की दुहाई देकर दूसरों को बिलगाने लगे।

भागवत मत के रामपंथी गोस्वामी तुलसीदास भी वेद की दुहाई देते हैं, और सन्तमत को देववाह्य कहकर तिरस्कार के साथ कहते हैं—

"निराचार जे श्रुति पथ त्यागी,
कलियुग सोइ ज्ञानी वैरागी।"

दुःख प्रकट करते हुए तुलसीदासजी फिर कहते हैं—

"श्रुतिसम्मत हरिभक्तिपथ, संयुत, विरति विवेक;
तेहि न चलहिं नर मोहबस, कल्पहिं पंथ अनेक।"

किन्तु इन सब पंथों ही को क्या एक समय वेदादि उपदिष्ट पुराने पंथ से क्या कम लड़ना पड़ा है? इसके बाद ज्यों ही ये सब मत सुप्रतिष्ठित हो गए, त्यों ही वे लोग भी वही सब पुरातन शास्त्र, आचार और वर्णाश्रम प्रभृति युगयुगान्त से संचित बोझ के भार से दब गए। उन दिनों उनमें भी बाहर के आदमियों का प्रवेश निषिद्ध हो गया। उस समय ये ही पंथ नये जीवित पंथों को बाधा पहुँचाने लगे।

ऐसा भी समय आया है, तब दक्ष के वेदविहित यज्ञ में शिव को कोई स्थान नहीं मिला था। पुराणों में बार-बार यह बात देखी जाती है कि शूद्रादि पूजित शिव को मुनिगण ग्रहण नहीं करते। वैदिकगण किसी तरह भी शिव-पूजा, लिंग-पूजा आदि स्वीकार नहीं करना चाहते थे। वामनपुराण के ४३ वें अध्याय में लिखा है—मुनि-

पत्नियाँ यद्यपि शिव को चाहती थीं; पर मुनि लोग नहीं चाहते थे। मुनिगण काष्ठ-पाषाण लेकर शिव को भगाने लगे—

> 'क्षोभं विलोक्य मुनय आश्रमे तु स्वयोषिताम्,
> हन्यतामितिसंभाष्य काष्ठ पाषाण पाणयः।'

—'मुनिगण आश्रम में अपनी स्त्रियों में क्षोभ देखकर (तापसवेशी शिव पर) काठ, पत्थर लेकर 'मारो मारो' कहकर पिल पड़े।"

बाद में ये ही मुनिगण शिवपूजा और लिंगपूजा ग्रहण करने के लिए बाध्य हुए। (वामन० ४५ अध्याय)

स्कन्दपुराण के नागरखण्ड में लिखा है, लिंगधारी महादेव जब मुनियों के आश्रम में आये, तो क्रुद्ध होकर मुनियों ने कहा—

> "यस्मात् पाप त्वयाऽस्माकमाश्रमोऽयं विडम्बितः,
> तस्माल्लिगं पतत्वाशु तवैव वसुधातले।"

—'रे पाप, तेरे द्वारा हम लोगों का यह आश्रम विडम्बित हुआ है। अतएव तेरा यह लिंग पृथ्वी तल पर गिर पड़े।'

सारे पुराणों में यह बात नाना भाव से देखी जाती है कि किस प्रकार यह शैव और वैष्णव पंथ वैदिक मतवाद से पहले तो तिरस्कृत और क्रमशः अंगीकृत और बाद में समादृत होकर प्रतिष्ठित हो गए। भागवत और महाभारत में खोज करने पर देखा जायगा कि किस प्रकार क्रमशः वैदिक कर्मकांड के स्थान में भक्तिवाद और देवताओं के यज्ञ-स्थल में अवतारवाद धीरे-धीरे आ जमे। इन्द्र के बाद विष्णु आये, अतएव उनका नाम उपेन्द्र हुआ। अमरसिंह ने कहा—'उपेन्द्र इन्द्रावरजः।'

महाभारत में युधिष्ठिर के राजसूय-यज्ञ के अवसर पर भीष्म के उपदेश में सहदेव ने जब श्रीकृष्ण को विधिविहित उत्तम अर्घ्य दिया—

"तस्मै श्रीप्मास्यनुज्ञातः सहदेवः प्रतापवान्
उपजह्रेऽथ विधिवत् वार्ष्णेयायार्घमुत्तमम् ।"
(महा० सभा० ३६-३०)

उस समय श्रीकृष्ण ने उसे ग्रहण किया—

"प्रतिजग्राह तं कृष्ण." (सभा० ३६-३१)

अग्निदेव उसी समय प्रज्वलित हो उठे। इस अवैध आचरण का शिशुपाल ने ऐसा विरोध किया कि श्रीकृष्ण को उसका वध करना पड़ा।

श्रीमद्भागवत में लिखा है कि जब गोपगण इन्द्रयाग करने को उद्यत हुए, तो कृष्ण और बलदेव ने उसे देखा—

"भगवानपि पत्रैव बलदेवेन संयुतः,
अवश्यन्निवसन् गोपानिन्द्रयाग कृतोद्यमन् ।"
(भा० १०-२४-१)

श्रीकृष्ण ने पूछा कि इस यज्ञ का उद्देश्य क्या है? नन्द ने कहा, भगवान् इन्द्र ही पर्जन्य हैं। मेघ उन्हीं की आत्ममूर्ति हैं। वे जीवधारियों के प्रीतिपद और प्राणपद जल की वर्षा करते हैं—

पर्जन्यो भगवानिन्द्रो मेघास्तस्यात्ममूर्तयः
तेऽभिवर्षन्तिभूतानां प्रीणनं जीवनं पयः ।" १०।२४।१

नन्द ने कहा, इन्द्र की पूजा परम्परा से चली आई है। जो इस पुरातन धर्म को काम, क्रोध, भय या द्वेषवश छोड़ता है, उसे कभी कल्याण नहीं मिलता—

"य एवं विसृजेद्धर्मं पारम्पर्यागतो नरः
कामाल्लोभाद्भयाद्द्वेषात्स वै नाप्नोतिशोभनम् ।"
(भा० १०-२४-११)

उस समय श्रीकृष्ण ने समझाकर कहा, कर्म वश ही जीव का जन्म और विलय होता है; सुख-दुःख, भय-क्षेम सभी कर्म के अनुकूल होता है—

"कर्मणा जायते जन्तुः कर्मणैव विलीयते
सुखं दुःखं भयं क्षेमं कर्मणैवाभिपद्यते।"

और अगर कोई ईश्वर नाम की वस्तु हो, तो वे भी कर्म के कर्ता की ही भजन करते हैं, कर्महीन को वे फलदान नहीं कर सकते हैं—

"अस्तिचेदीश्वरः कश्चित्फलरूपान्यकर्मणाम्
कर्त्तारं भजते सोऽपि नह्यकर्त्तुः प्रभुर्हि सः।"

ईश्वर को लेकर क्यों व्यर्थ की खींचतान की जाय मनुष्य स्वभावतः स्वभाव का ही अनुवर्तन करता है। देवासुर और मनुष्य सभी स्वभाव में ही अवस्थित हैं—

"स्वभावतन्त्रो हि जनः स्वभावमनुवर्तते
स्वभावस्थमिदं सर्वं स देवासुर मानुषम्"

(भा० १०-२४-१६)

रजोगुण से ही यह विश्व और अन्यान्य विविध जगत् उत्पन्न हुआ है—

"रजसोत्पद्यते विश्व मनोन्य विविधं जगत्"

(भा० १०-२४-२२)

रजोगुण से प्रेरित होकर ही मेघगण सर्वत्र वारिवर्षा करते हैं। इसी से प्रजाएँ रक्षा पाती हैं। महेन्द्र क्या कर सकते हैं—

"रजसा चोदिता मेघा वर्षन्त्यम्बूनि सर्वतः
प्रजास्तैरेव सिद्ध्यन्ति महेन्द्रः किं करिष्यति?"

(भा० १०-२४-२३)

भागवत में उद्धृत श्रीकृष्ण की युक्ति और तर्क सुनकर जान पड़ता है कि आजकल का कोई भयंकर निरीश्वरवादी वैज्ञानिक तर्क कर रहा है। युक्ति और विज्ञान की सहायता से प्राचीन परम्परागत अन्धता को दूर करने के लिए श्रीकृष्ण बद्धपरिकर-से दीखते हैं। कितने कष्ट से उन्होंने भक्तिवाद, युक्तिवाद आदि से अर्थहीन कर्मकांड को हटाकर मनुष्य के हृदय में जरा-सा स्थान पाया था, यह प्राचीन शास्त्र-पुराणादि देखने से ही समझ में आ जायगा। लेकिन आज?

आज उन्हीं श्रीकृष्ण के भक्तों के दल युक्तिहीन आचार-परम्परा के व्यूह से पिसकर निपीड़ित हुए हैं! जरा भी स्वाधीन भाव से देखने को शक्ति उनमें नहीं है। जिन प्राचीनतर संकीर्ण मतवाद को उनके महागुरुओं ने नाना कष्ट झेलकर हटाया था, उन्हीं प्राचीनतर मतों के अर्थहीन भार से कहीं बढ़कर गुरुतर बोझ से वे दबे हुए हैं।

सभी नवीन मतवादों के इतिहास में शुरू-शुरू में खूब स्वतन्त्र बुद्धि का परिचय पाया जाता है। जबरदस्त चोट, प्राचीन अर्थहीन संचयों पर निर्भीक होकर आक्रमण करना, प्राचीनतर मठवासी सम्पन्न साधुओं के अलस जीवन की तीव्र आलोचना हुआ करती है; मगर मजा यह कि जब ये ही मतवाद सम्प्रदाय का रूप धारण करते हैं, ज्यों ही ये स्वयं सम्पन्न और प्रतिष्ठित हो जाते हैं, त्यों ही उनके सिर भी वही पुरानी विपत्तियाँ आ जमती हैं। मठ-महन्त आलसी जीवन, स्वर्ण-छत्र, स्वर्ण-पादुका, हाथी-घोड़ा, ऐश्वर्य दिन-दिन विपुल परिमाण में बढ़ने लगते हैं। ऐसे समय में ही लाख-लाख रुपये मठों और अपने सम्प्रदाय के संन्यासियों के लिए खर्च करने लगते हैं। अपने आदि आदर्श से भ्रष्ट होकर सब-कुछ भूल जाते हैं। उस समय यदि कोई नया मतवाद उन्हीं के विस्मृत आदर्शों को नवीन जीवन देकर उद्बुद्ध करना चाहता है, तो वे ही उसके भीषणतम शत्रु और बाधक हो उठते हैं।

अन्य दस आदमी अगर इस नवीन चेष्टा का कुछ आदर भी करें, तो ये लोग सदा कृपाण लेकर ही उसके विरुद्ध खड़े रहते हैं। उस समय इन पंथों में जो प्रचण्ड शौच और आचार परम्परागत विधि-परतन्त्रता और नूतन किसी भी मत के प्रति घोर वितृष्णा देखकर यह कभी मन में भी नहीं आता कि एक दिन इन भले आदमियों को भी यही सब कष्ट झेलने पड़े हैं! सतायी हुई बहुएँ ही समय पाकर दारुण सास का रूपधारण करती हैं। मुसलमान कुलोत्पन्न कबीर के

अनुवर्ती भिन्नपन्थी लोगों की विषम आचार-निष्ठा देखकर चकित रह जाना पड़ता है।

इसी प्रसंग में एक पुरानी बात याद आ गई। बहुत दिनों की बात है। राजस्थान के भीतर से सिन्ध की ओर जा रहा था। रास्ते में, अजमेर में उत्सव की भीड़ थी। खूब जन-समागम हुआ था। रेल में श्रेणी-विचार नहीं था। जरा-सा स्थान पाने के लिए लोग दाँत निकालते, हाथ जोड़ते—क्या-क्या नहीं करते थे! अगर बैठे लोगों की कृपा से किसी ने जरा-सा प्रवेश लाभ किया, तो कुछ ही देर बाद वही मनुष्य शेर बना खड़ा है। किसी को आने नहीं देता; जो आना चाहता है, उसी को धक्का मार के बाहर निकाल देता है—जगह कहाँ है जी, दूर हटो! इसी मनोवृत्ति ने हमारे देश के धर्म के इतिहास में भी ऐसा रूप धारण किया है। क्रमशः ये लोग ही इसी प्रकार उदारता का विसर्जन किये हैं।

शैव और वैष्णवों की इस प्रकार की दुर्दशा देखकर हम लोगों को भी हँसना नहीं चाहिए। संभवतः हम लोगों की भी—जो लोग उदारता का दावा करते हैं, यह दुर्गति आरम्भ हो गई है। सुप्रतिष्ठित होने के साथ ही साथ हम भी दिन-दिन मानव मानव की साधना और महायोग में बाधक हो रहे हैं। लोग दूसरे की दुर्गति समझ सकते हैं; किन्तु अपनी नहीं समझ पाते। एक बार एक पागल ने अपनी धोती खोलकर सिर पर बाँध ली। पूछने पर बोला—"उस मुहल्ले का माधव पागल हो गया है, देखने जा रहा हूँ।" उपले जलते हैं, गोबर हँसता है। हमारी भी हँसी ऐसी ही है।

आचार, अनुष्ठान और कर्मकाण्ड—सब-के-सब बाह्य हैं। सभी बाह्य वस्तु भौतिक होती हैं और भौतिकता का प्रधान धर्म है स्थान-व्यापकता अर्थात् एक चीज दूसरी को सदा दूर रखती है। संस्कृति के क्षेत्र में इसे ही वर्जनशीलता कहते हैं। आकाश चूँकि एक वस्तु-पुंज नहीं है, इसीलिये वह न तो किसी को बाधा देता है और न

कहीं बाधा पाता है। भाव भी इसी तरह आकाशधर्मी है। एक भाव दूसरे का विरोधी नहीं है। यदि विरोधी हो तो समझना चाहिए कि यह भी एक भार हो उठा है। इसीलिये दादू ने भाव-वस्तु की तुलना शून्य के साथ की है। सन्तों ने शून्य और 'सहज' को एक करके देखा है।

यह भाव और प्रेम ही सन्तों का 'सहज' है। इस 'सहज' के जीवन में होने से अनुदार होने का कोई स्थान ही नहीं है; किन्तु व्यक्त या अव्यक्त भाव से जितने दिन तक आचार का भार हम भीतर या बाहर वहन करते हैं, तब तक उदारता की रटी बोलियों का कोई अर्थ नहीं। उस समय उदारता का अर्थ यह है कि लोग हमारी चीज को ग्रहण करें, किन्तु हमें किसी की कोई बात ग्रहण करनी न पड़े।

अनेक बार वृद्धा महिलाओं को यह कहते सुना है कि मेरी लड़की का भाग्य अच्छा है; दामाद बहुत अच्छा मिला है। लड़की की बात मानकर ही वह चलता है। लेकिन जो मेरा लड़का है, वह बड़ा कपूत निकला, बहू का गुलाम है, जो कहती है, उसे नाहीं करने का साहस उसमें नहीं! इत्यादि!

उस तरह की तथाकथित उदारताएँ ठीक इसी तरह की हैं; किन्तु भाव के सहज राज्य में जो सन्त लोग विराजते हैं, उनकी उदारता बिलकुल सच्ची है, उसमें जरा भी झुठाई नहीं। बंगाल के बाउल, सिन्ध के सूफी और उत्तर-भारत के सन्तों की इस सम्पद् की तुलना नहीं। बिना साधना के उदारता की यह सम्पद् दुर्लभ है।

उदारता ही साधना का एक धन और भगवान् की दी हुई महा-सम्पद् है। यह सुविधावाद की चीज नहीं है। शिक्षितों की तथाकथित 'उदारता' में उस सच्चे भाव की और प्राणों के तकाजे की बात कहाँ है? सन्तगण ही सच्चे साधक हैं। इन सब निरक्षर महाप्राण साधकों की उदारता के सामने खड़े होने पर भी हम लोग

लज्जा से सिर नीचा कर लेते हैं। यह उदारता ही यथार्थ योग है, इसीसे 'सहज' ही मनुष्य देने और लेने के योग्य हो जाता है। हमारे शिक्षित भाई तो नाना प्रदेशों में गये हैं। कितने उनमें ऐसे हैं, जिन्होंने वहाँ की साधना और साहित्य से अपने को समृद्ध बनाया है।

इस विषय में भी शायद यूरोपियन लोग ही हमारे गुरु हैं। वे चाहे जिस देश में जायँ, उसी देश में एक कृत्रिम 'होम' रचना करके वास करने लगते हैं। घोंघे शायद उनके भी गुरु हैं! घोंघा जहाँ-कहीं भी क्यों न जाय, वहाँ अपना घर माथे पर ढोए लिए जाता है। अतल समुद्र में भी जिस प्रकार पनडुब्बा अपने काँच के घर में बैठा हुआ समुद्र का धन लूट लाता है, फिर भी समुद्र के साथ अपने को किसी प्रकार युक्त नहीं करता, हमारा वर्तमान सभ्यता का उच्चतम आदर्श भी यही है। लूट-खसोट करो, शोषण करो; किन्तु युक्त मत होओ!

'सर्वमानव में योग' की शिक्षा अगर प्राप्त करनी है, तो इन सन्तों के चरण-तल में बैठना पड़ेगा। साधना का यह योग ही यथार्थ योग है। यह सन्त-साहित्य बड़ा विशाल है, विराट है।

'दादू' लिखते समय मैंने प्राचीन पोथियों के ऊपर अवलम्बित न रहकर नाना प्रदेशों के साधुओं की वाणियों का अवलम्बन लिया है। बंगाल में मैंने राजस्थान के साधकों का परिचय दिया है। मेरे निकट कितने ही लोगों ने इस बात के लिए जवाब तलब किया है कि राजस्थानी साधु की बात मैंने बँगला में क्यों लिखी।

इस प्रसंग में मुझे एक कहानी याद आ गई। एक बार एक परिवार में लगातार कई विवाह लड़कों के ही हुए, लड़कियों की शादी नहीं हुई। उस समय एक समझदार व्यक्ति ने बड़े अफसोस के साथ कहा—'अगर लड़के अन्य परिवार को कन्यादान से मुक्त न करके अपने ही घर की लड़कियों से शादी करते, तो स्वयं दायमुक्त

हो सकते थे !' सुननेवालों ने कहा—'पागल है क्या !' साधना के क्षेत्र में हम लोगों में भी इस प्रकार का पागलपन है, यह बात हमारी आँखों को दिखाई ही नहीं देती। इसीलिये हमारे देश में एक प्रदेश के सन्तों का परिचय उसी प्रदेश की भाषा में न लिखने को यदि कोई अपराध समझें, तो सब लोग इस समझ की प्रशंसा ही करेंगे। आज हमारा दृष्टि-क्षेत्र इतना संकीर्ण हो गया है !

यह संकीर्णता दूर करने के लिए हम लोगों को निरन्तर घर के और बाहर के साधकों का परिचय प्राप्त करना पड़ेगा। इस प्रकार लगातार साधना से शायद हमारा मोह-बन्धन कटे। ये सब महापुरुष और ये सब सत्य जिन प्रदेशों की सम्पद हैं, उस प्रदेशवाले तो उसे अनायास ही देख सकेंगे; लेकिन जो भिन्न प्रदेशवासी हैं और जिन्हें उनके पाने का सुयोग नहीं मिला है, उन्हीं को हम उनका परिचय कराना चाहते हैं। जो लोग मर्म और सत्य की खोज में निकले हैं, भाषा के लिए उनके सिर में क्यों दर्द होने जायगा। उनका लक्ष्य तो मनुष्य है, मनुष्य बन्धनमुक्त होकर दिन-दिन अग्रसर होकर चलता रहे, यही हमारा लक्ष्य होना चाहिए। गंगा अगर अपनी आदिभूमि पर्वत में ही बँधी रहती, तो सारा संसार किस प्रकार तृप्त और दाहमुक्त होता ? गंगा ने अपनी संकीर्ण पितृ-भूमि का मोह त्याग किया, सर्वसचराचर को तृप्त करने के लिए इस संसार में अवतीर्ण होना स्वीकार किया है, इसी से संसार धन्य हो गया है। इसीलिये प्रत्येक देश के भाव-गंगा को उसकी अपनी संकीर्ण भाषा की सीमा से बाहर करके तप्त धरणी के ऊपर विस्तृत किये बिना मनुष्य का कोई चारा नहीं है। इस स्थान पर बंगाल के मदन नामक बाउल का गान याद आता है—

"तोमार पथ ढाकाइयाछे मन्दिरे-मस्जेदे।
तोमार डाक शुनि साँइ, चलते ना पाइ,
रुकाइया दाँड़ाय गुरुते मुर्शेदे।

डूबाइया याते अंग जुड़ाय, तातेइ यदि जगत पुड़ाय
बलतो गुरु कोथाय दाँड़ाय,
तोमार अभेद साधन मरलो भेद
तोर दुबारेइ नानान ताला, पुरान कोरान तसबी माला
भेख पखइ त प्रधान ज्वाला,
काँदेइ मदन मरे खेदे।
तोमार०।"

अर्थात्—मन्दिरों और मस्जिदों ने तुम्हारा रास्ता ढक लिया है, हे स्वामी ! तुम्हारी पुकार पर मैं चल नहीं पाता, गुरु और मुर्शिद रोककर खड़े हो जाते हैं। जिसमें डूबने से 'शरीर जुड़ा जाना चाहिए—तर हो जाना चाहिये, उसी से अगर संसार जलने लगे, तो हे गुरो, हम खड़े कहाँ हों ? हाय, तुम्हारी अभेद साधना भेद से मारी गई ! तुम्हारे ही द्वार पर ये नाना ताले—पुराण, कुरान, तसबीह, माला इत्यादि लगे हैं। भेख और पक्ष ही तो प्रधान ज्वाल है। मदन तो खेद से रोकर ही मर रहा है !

भाषा में ज़रा संकीर्णता और दोष है, उससे भी अधिक सहज होने जाकर साधकों ने कभी-कभी मौन को ही अधिक स्थान दिया है। भगवान् बुद्ध से एक बार महासत्य के सम्बन्ध में तीन बार प्रश्न किया गया। उन्होंने तीन बार ही मौनावलम्बन किया। जब बुद्धदेव से कहा गया कि आपने उत्तर क्यों नहीं दिया, तो उन्होंने कहा—"उत्तर तो दे चुका हूँ, वह महासत्य वचनातीत है, मौन की तरह ही है।"

एक बार कबीर जब भड़ौंच में नर्मदा तट पर शुक्ल-तीर्थ में थे, उस समय उनकी ख्याति सुनकर एक फारस देश के भक्त फकीर उनके दर्शनार्थ व्याकुल हो उठे। एक दिन उन्होंने देखा कि सूखे फलों से लदी हुई एक नौका फारस देश के बन्दरगाह से भड़ौंच की ओर जा रही है। फकीर ने उसमें ज़रा-सी जगह के लिए प्रार्थना

की। बनियों ने दया करके उन्हें नाव में बैठा लिया। भड़ौंच पहुँच कर फकीर को मालूम हुआ कि यह नाव दूसरे ही दिन फारस को लौट जायगी। उस समय दोपहर हो आया था। फ़कीर छै कोस रास्ता पैदल चलकर शाम को शुक्ल-तीर्थ में पहुँचे। कबीर उस समय ध्यानावस्थित थे। शिष्यों ने फकीर की आवभगत की। कुछ देर बाद जब कबीर बाहर आये, तो दोनों जने एक दूसरे के हाथ पकड़कर चुपचाप सारी रात बैठे रहे। दूसरे दिन तृप्त होकर फ़कीर अपनी नाव पर जाने के लिए विदा होकर चल दिये। सब लोग कबीर से पूछने लगे—"इतनी दूर से आकर वे चुप क्यों रहे और आप भी कुछ बोले क्यों नहीं?"

कबीर ने कहा—"हम दोनों में इतनी बातें हुई हैं कि भाषा में वे अँट नहीं सकतीं। मन के भाव को यदि मैं मुख की भाषा में अनुवाद करके बोलता, तो उसमें विकार आ जाता। फिर उन बातों को जब वे मन की भाषा में अनुवाद करते, तो और भी विकार होता। इससे असल भाव का कुछ भी अंश न बच रहता। आईने से किसी चीज़ को उल्टा प्रतिफलित करके पुनर्वार दूसरे आईने से उलटकर प्रतिफलित करने से चीज़ सीधी दीखने लगती है; पर उससे अच्छा क्या यह नहीं होगा कि असल चीज़ को सीधा ही देखा जाय, क्योंकि दो दर्पणों के दोष से चीज़ कुछ-की-कुछ हो सकती है।"

इसीलिये सहजवादी सन्तगण भाषा की अपेक्षा मौन का ही अधिक सम्मान कर गये हैं; लेकिन यह मौन एक शून्यता भर नहीं है। शून्य और सहज, उनकी दृष्टि में, एकान्तभाव से परस्पर युक्त हैं। अपने 'दादू' नामक ग्रन्थ में मैंने इस विषय की आलोचना विशेष भाव से की है।

मनुष्य के साथ मनुष्य के योग के लिए ही भाषा है। लेकिन भाषा ही व्यापक और गम्भीरतर योग में बाधक हो उठती है! सन्तों और साधकों का प्रधान लक्ष्य ही है मानव के सत्य और साधना का

योग। इसीलिए सत्य और साधना के क्षेत्र में इन्होंने भाषा को कभी मुख्य स्थान नहीं दिया।

इस साधना के लिये सन्तों को क्या कम दुःख उठाना पड़ा है। एक कहानी प्रसिद्ध है। ऐतिहासिक आधार कुछ हो या नहीं, इस कहानी से साधकों के अन्तर का भाव समझ में आ जाता है। कहते हैं कि काशी में जब कबीर हिन्दू-मुसलमानों की साधना के मिलने के लिए प्रयत्न कर रहे थे, उस समय पंडितों ने बादशाह के यहाँ नालिश की कि यह आदमी मुसलमान होकर भी हमारे धर्म में व्यर्थ हस्त-क्षेप कर रहा है। मुल्ला लोगों ने भी कबीर के विरुद्ध यह अभियोग उपस्थित किया कि मुसलमान कुल में पैदा होकर भी राम-राम का जप करके यह आदमी मुसलमानी धर्म का अपमान कर रहा है। बादशाह के दरबार में कबीर को बुलाया गया।

कबीर ने देखा कि अभियोक्ता के कठघरे में हिंदू और मुसल-मान, पण्डित और मुल्ला, एक ही साथ खड़े हैं। ज़ोर से हँसकर वे बोलने लगे; लेकिन बोलने के पहले ही दरबारियों ने इस हास्य के लिए व्याख्या माँगी। कबीर ने कहा—"यही तो मैंने चाहा था; किन्तु ठिकाना ज़रा ग़लत हो गया। चाहा था मैंने हिन्दू-मुसलमानों का मिलन। उस समय सब लोग कह रहे थे, बात असम्भव है; लेकिन आज देखते हैं, यह बात सम्भव हो गई है। जगदीश्वर के सिंहासन के पास मैंने इन दोनों दलों को मिलाना चाहा था; मगर ये लोग जगत के राजा के सिंहासन के पास आ मिले! इसीलिये मैंने कहा कि ठिकाना ज़रा ग़लत हो गया है। जगत् के राजा के सिंहा-सन के नीचे स्थान तो बहुत थोड़ा है, पर जगदीश्वर के सिंहासन के नीचे स्थान की क्या कमी है? यहीं अगर मिलन हो सका है, तो वहाँ का तो कहना ही क्या है। यहाँ ये विद्वेष और साम्प्रदायिक लोभ के कारण मिले हैं, वहाँ उनके सिंहासन के नीचे प्रेम का राज्य है, वह तो और भी उदार है। लोभ और विद्वेष के द्वारा यदि ये

मिल सके हैं, तो प्रेम और मैत्री के महाक्षेत्र में तो ये और सहज ही मिल जायँगे। हिन्दू-मुसलमानों के मिलन की जो कल्पना मैंने की थी, देखता हूँ, उसमें कोई शंका की बात नहीं, वह एकदम सम्भव है, इसलिये हठात् हँसी रोक नहीं सका। कृपया आप लोग मुझे क्षमा करें।"

इस प्रसंग में एक बात कहूँ। विद्वेष का और मिथ्या का स्थान शायद उतना अप्रशस्त नहीं है, जितना कबीर ने समझा था! अगर आज वे जीते होते, तो देखकर शायद उन्हें विस्मित होना पड़ता कि जो हिन्दू और मुसलमान धर्म, राजनीति, कौंसिल और दफ़्तर में सर्वत्र झगड़ते रहते हैं, कहीं भी किसी प्रकार मिल नहीं सकते; वे ही एक ही दल में एकत्र होकर चोरी, डकैती और ठगी करते दीखते हैं। यहाँ तक कि जेब काटने की गहन साधना के क्षेत्र में भी इन दो सम्प्रदायों के प्रेम-मिलन में कोई बाधा नहीं पड़ती। अत्यन्त सुन्दर समझौते से उनका यह मिलन सम्भव हुआ है!

इसमें कोई सन्देह नहीं कि महापुरुषगण जो ऐक्य-साधना करने आते हैं, उनका प्रधान लक्ष्य ऐक्य भाव और सत्य हुआ करते हैं। आचार और कर्मकाण्ड के द्वारा यह साधित नहीं होता। कारण, ये बातें हर एक क्षेत्र में अलग-अलग हुआ करती हैं। इन (आचार और कर्मकाण्ड) से विच्छेद और विभेद ही खड़े हो उठते हैं। ऐक्य के मार्ग में केवल भाव और सत्य को लेकर अग्रसर हुआ जा सकता है। इस जगत् के इतिहास में कभी आचार, अनुष्ठान या कर्मकाण्ड के द्वारा भिन्न-भिन्न मतों में एकता नहीं हुई। इसीलिये ऐक्य के गुरुगण भाव और सत्य के ऊपर एकान्त भाव से निर्भर करते हैं। इस सत्य की संज्ञा देते समय भक्त रज्जब जी ने कहा था—"विश्व के सभी सत्यों के साथ जो सत्य मिलता है, वही सच्चा सत्य है, नहीं तो वह झूठ है—

सब साँच मिलै सो साँच है ना मिलै सो झूठ।"

संसार में साम्प्रदायिक सत्य, दलगत सत्य प्रभृति नाना प्रकार के संकीर्ण सत्य नामक सत्य नहीं है। सर्वसत्य का एकमात्र परख है उसकी सार्वभौमिकता।

इसीलिये महागुरुओं ने लगातार कहा है—"समस्त संकीर्ण आचार-विचार प्रभृति बन्धनों से मुक्त बनो, सहज बनो, तभी एकता के मार्ग में आनेवाली सभी बाधाएँ दूर होंगी। भाषा, भेष, आचार, विग्रह, मन्दिर, कर्मकाण्ड, संस्कार प्रभृति सभी चीजें बाहरी हैं, बाधा हैं।" इसीलिये भारतवर्ष के मध्ययुग के सन्त-साधकों का दल इन सब बाधाओं से मुक्त होकर सहज होने का उपदेश देते हैं।

सन्तों में से अधिकांश तथाकथित नीच कुलों में पैदा हुए थे, अर्थात् आर्येतरवंशीय थे। एक बार इन्हीं के पूर्वपुरुष जब देव-देवी को आश्रय करके धर्म-साधना करते थे, उस समय कुलीन आर्यगण उनकी इस प्राकृत साधना को बर्बर समझकर सदा दूर रखते रहे। क्रमशः इन्हीं देव-देवियों ने आर्यों के ऊपर इस प्रकार प्रभाव विस्तार किया कि उन्होंने ही उन देव-देवियों के आदिम अधिकारी सन्तों को बाद में उन्हीं मन्दिरों से निकाल बाहर किया। कहने लगे, ये अनार्य देव-पूजा के अधिकारी नहीं, इनका 'प्रवेशो निषिद्धः'! ये यहाँ घुस नहीं सकते! इन्होंने भी इस अद्भुत आदेश को सिरमाथे करके मान लिया। केवल सन्तों ने ही इस आदेश के आगे सिर नहीं झुकाया, यद्यपि इन्हीं आर्येतर वंशों में इन लोगों का भी जन्म हुआ था।

विद्रोही होकर इन्होंने यही नहीं कहा—"ये मन्दिर तो हमारे ही हैं, तुम कौन होते हो बाधा देनेवाले? हमारे अपने मन्दिर में हम तो प्रवेश करेंगे ही।" बल्कि उन्होंने कहा—"ये मन्दिर और देवता झूठ हैं। यहाँ सिर झुकाना ही अपनी आत्मा का अपमान करना है। इन देवताओं और मन्दिरों के भेद-विभेद का अन्त नहीं है। सच्चे देवता तो अन्तर में हैं। मनुष्य ही उस सत्य देवता का प्रत्यक्ष मन्दिर है। वह अपरूप वैचित्र्य होते हुए भी एक महा ऐक्य विराजमान है।"

"ये सब आचार-अनुष्ठान, संस्कार, देव-मन्दिर इत्यादि मानो शरीर के काँटे हैं। इन कण्टकों से अपने को कण्टकित करके किसी के साथ योग-असम्भव है। इन काँटों को खड़ा करके परस्पर को अगर हम आलिंगन करना चाहें, तो वह साही के आलिंगन के समान होगा।

"सहज मनुष्य हो, बाहरी भेद-विभेद दूर करके भीतर सत्य की ओर लौट चलो। वहाँ वैचित्र्य है, किन्तु विरोध नहीं। इस अन्तर के मन्दिर में ही मानव-साधना का नित्य दीप जल रहा है। सहज होने पर इस गुरु की नित्य वाणी सुन सकोगे।"

बुद्धदेव अन्तर के इस प्रदीप का सन्धान जानते थे, इसीलिये उन्होंने कहा—आत्म-दीप बनो—

"अप्प दीपो भव।"

दादू ने भी कहा है—कौन किसे तारेगा, इसी संशय से जीव कुल व्याकुल है। दादू कहते हैं कि वीर तो वह है, जो अपने को उबार सके—

"जीवं की संसा पड़्या, को का कौं तारै;
दादू दोई सूरिमाँ जे आप उबारै।"

अर्थात्—बाहर के 'ठाकुर-ठोकर' (ठाकुर-वाकुर), देवता-विग्रह, शास्त्र संस्कार प्रभृति छोड़ो, भीतर की ओर आओ, सहज मनुष्य बनो। यानी मनुष्य साधना का चरम और परम सत्य है, इसीलिये चण्डीदास ने कहा है—

"शुनह मानुष भाइ, सबार उपरे मानुष सत्य, ताहार उपरे नाइ।"
—'हे मनुष्य भाइयो, सुनो। सबसे बड़ा सत्य मनुष्य है, उसके ऊपर कुछ नहीं।'

हमारे 'मन में जो मनुष्य' (रवीन्द्रनाथ का Man-in-my-heart) है, वही हमारा असली गुरु है। इसीलिये बाउल सन्त का कहना है—

"यदि भेटबि से मानुषे, साधने सहज हबि, तोरे याइते हबे सहज देशे।"

इस सहज की साधना में 'भेक-भाक' सभी सहज होना चाहिए। बुद्धदेव सहज के साधक थे, इसीलिये संस्कृत छोड़कर गण-भाषा पाली को अपनाया। कबीर ने भी भाषा में ही कहा। उनकी वाणी में खरी सचाई है—

"कबिरा संस्कृति कूप जल भाषा बहता नीर।"

किन्तु जिस युग और जिस देश में पाली संस्कृत की ही तरह दुर्बोध्य हो गई है, उस समय भी जब बुद्ध के शिष्यों को पाली चलाते ही देखते हैं, तो मेरे मन में ऐसा मालूम होता है कि बुद्ध के शिष्य ही बुद्ध के प्रधान विद्रोही हैं। जब हम देखते हैं कि कबीरपंथी आज अन्य प्रान्तों में भी रहकर हिन्दी छोड़ने में असमर्थ हैं, तो मालूम होता है, ये लोग भी संस्कार और आचार के भार से गुरु को दबाकर मार डालना चाहते हैं। शास्त्र इसी प्रकार सब जगह भाव को मार-मार कर समाप्त कर देता है।

'भेक' की ओर से भी देखा जाय, तो सन्तों ने किसी कृत्रिम साम्प्रदायिक वेश-भूषा को नहीं माना दादू का वर्णन करते समय रज्जब ने कहा है—

"भगवाँ जी भावै नाहिं विभूति लगावै नाहिं,
पाखंड सुहावै नाहिं, ऐसी कछु चाल है।
टीका माला मानै नाहिं, जैन स्वांग जानै नाहिं
प्रपंच बखानै नाहिं, ऐसा कछु हाल है।
सींगी मुद्रा सेवै नाहिं बोध विधि लेवै नाहिं
भरम दिल देवै नाहिं, ऐसा कछु ख्याल है।
तुरकों तो खोदि गाड़ि, हिन्दुन की हद छाड़ि,
अन्तर अजर माँडी, ऐसो दादूलाल है।"
(श्री स्वामी दादूलाल का भेंट का सवैया)

वेश-भूषा के भीतर भी जो भेद-प्रभेद है, उसे ही दूर करने की

इच्छा से ही क्या किसी ने कहा था कि दिगम्बर बनो ! केश को लेकर भी विभिन्न सम्प्रदायों में प्रचण्ड मत-भेद है। किसी ने दाढ़ी रखी, किसी ने चोटी। बाउल इसीलिये कहते हैं—"ज़रूरत नहीं बाबा, इन सब झंझटों की। सहज होओ, स्वाभाविक बनो, सब केश रखो।" इसीलिये वे सब रखते हैं। सिख लोग भी ऐसा ही करते हैं।

व्यक्तलिंग और आचार-वर्जन करने से ही इन सहज मत के साधकों का नाम अव्यक्त लिंगाचार है। उनके बाह्य आचार-अनुष्ठान, मन्दिर और 'ठाकुर-ठोकर' कुछ भी नहीं है। केन्दुलि (केन्दुविल्व, जयदेव कवि का जन्मस्थान, जहाँ जयदेव के नाम पर।ही मकर-संक्रान्ति के अवसर पर साधु-सन्तों का समागम और मेला होता है) में बाउल नित्यानन्द दास ने एक बार मुझसे कहा था—"बाबा हमारे यहाँ 'ठाकुर-ठोकर' की झंझट नहीं है। वैष्णवों के साथ वहीं पर हमारा भेद है।"

यद्यपि यह सहज इतना बड़ा सत्य है, तथापि इसे भी मनुष्य ने लोभ और मोहवश विकृत कर दिया है। इसीलिये सहज करने से अनेक लोग एक विशेष प्रकार के धर्म के विकार को ही समझते हैं ! मनुष्य एक ओर पशु की भाँति काम-क्रोधादि से परिचालित होकर नीच भोग-सुख से मतवाला हो उठता है और दूसरी ओर धर्म के लिए कृच्छाचार का परम पालन कर छोड़ता है। दोनों ही 'कोटि-धर्म' (Extremism) हैं। बुद्ध ने कहा है—"ये दोनों ही कोटियाँ सत्य से भ्रष्ट हैं। इसीलिये सहज मध्यपंथा ग्रहण करना ही उचित है।"

क्षुद्र बुद्धि, पशुभावापन्न लोग क्रमशः इस सहज की दुहाई देकर ही कामादि सम्भोग में प्रवृत्त हुए। इस बात को एक बार विचार कर देखा भी नहीं कि जो बात पशु के लिए सहज और स्वाभाविक है, वह मानव के लिए सहज स्वाभाविक नहीं है। कारण यह है कि केवल इन्द्रिय लेकर ही तो मनुष्य की सत्ता नहीं है। सहज है, 'उभय-कोटि-विनिर्मुक्त' निर्मल सत्य है; वह चिरन्तन है, वह सार्वभौम है।

सन्तों ने कहा है कि सहज होने के लिए ही काम-क्रोधादि आकस्मिक उपद्रव से चित्त को नित्यमुक्त रखना होगा। जो बात सहज है, उसमें विक्षोभ नहीं है, प्रयास नहीं है, श्रान्ति भी नहीं है। वह 'परम विश्राम' है। काम-क्रोध आदि बाहरी भाव हैं, ये सहज नहीं हैं, क्योंकि ये विक्षोभ और प्रयास से भरे हैं। कब तक हम उस विक्षोभ को सह सकते हैं? तूफान और आँधी क्षणिक व्यापार हैं, उनके शान्त होने पर देखो जाती है वह चिरन्तन और शाश्वत शान्ति, जिसमें न तो विक्षोभ है और न श्रान्ति। चीन देश के महाज्ञानी लाओत्से ने कहा है—'इतनी बड़ी जो प्रकृति है, वही कितनी देर तक बाहरी आँधी को सह सकती है? आँधी के बाद ही धीर शाश्वत शान्ति आती है, ये सारे विक्षोभ ही क्षणिक और बाह्य हैं। इसीलिये ये स्थान और काल में सीमा बद्ध हैं। सामान्य मानव के लिये विक्षोभ एकदम आत्मघाती हैं। सहज का धर्म ही है नित्यता और विश्वव्याप्ति। इसी से ही शान्ति है, इसी से अमृतत्व है।

काम-क्रोधादि के विक्षोभ से प्रत्येक मनुष्य एक दूसरे से पृथक है, यहाँ तक की वह स्वयं ही शतधा खंड-विखंड है। इन सबों के भीतर से क्या मनुष्य-मनुष्य के मिलने की कोई आशा है? सहज के भीतर ही मनुष्य का मिलन है। शाश्वत और शान्त सत्य के भीतर ही सर्वमानव का सदा भरोसा है, इसीलिए सन्तों ने इस 'सहज' के भीतर से ही सर्वमानव के योग की कामना की है।

सम्प्रदाय-विशेष-पूजित काठ-पत्थरों के प्रतीक और उसकी पूजा या आचार-संस्कार मनुष्य में मनुष्य को सदा ही विच्छिन्न रखते हैं। इसीलिये अपने अन्तर में सत्य-स्वरूप और प्रेम-स्वरूप 'एक' को उपलब्ध करने के सिवा मिलन का और क्या उपाय हो सकता है?

एक-एक सम्प्रदाय में देवता के एक-एक, अलग-अलग नाम हैं। किसी एक सम्प्रदाय-प्रार्थित नाम को लेते ही दूसरा सम्प्रदाय क्षुब्ध हो उठता है। इसका प्रतिकार क्या है? कबीर ने कहा है—

"पूरब दिशा हरि को वासा,
पश्चिम अलह मुकामा।"

ये दोनों नाम एक ही परमात्मा के हैं, यह बात चरम-भाव से समझाने के लिए कबीर ने कहा है--

"कबीर पोगँड़ा अलह राम का
सो गुरु पीर हमारा।"

दोनों को पिता कहकर कबीर ने जिस ऐक्य की साक्षी दी है, उससे बड़ी गवाही और क्या हो सकती है ?

नाम लेते ही ये बहुत-सी झंझटें अपने-आप सामने आ जाती हैं। इसीलिये बाउल साधक भगवान् के लिए किसी संज्ञा शब्द का व्यवहार न कर सदा सर्वनाम का व्यवहार करते हैं—जैसे, 'वे', 'तुम' इत्यादि। क्योंकि ये सर्वनाम तो सर्वत्र एक ही हैं। स्त्री भी इसी प्रकार प्रेमवश ही स्वामी का नाम लेकर केवल 'वे', 'तुम' आदि कहकर ही काम चलाया करती है। रवीन्द्रनाथ ने भी अपने भगवत्प्रेम—सम्बन्धी गीतों में भगवान् को वे, तुम आदि कहकर ही समझाया है। इसीलिये उनके गान जगत् के सब सम्प्रदायों के व्यवहार के योग्य हैं। बाउलगण भी इस विषय में विशेष सावधान हैं। अनजान में ही रवीन्द्रनाथ ने इस पद्धति का अनुसरण किया है।

सन्त लोग भी प्रायः नाम व्यवहार नहीं करते। 'स्वामी', 'प्रभु', 'तुम', 'वे' इत्यादि से ही काम चला लेना चाहते हैं। इसीलिये दादू ने कहा है—

"सुन्दरि कबहूँ कन्त का, मुखसों नाम न लेइ।"

कबीर ने कहा है—वे मेरे बाहर भी हैं, भीतर भी हैं। वे मुझसे अन्तर और बाहर से अभिन्न हैं। नाम लूँ तो किस प्रकार ? नाम लेने से मालूम होगा कि वे हमसे भिन्न हैं—

"जल भर कुम्भ जलै बिच धरिया
बाहर भीतर सोय।

उनका नाम कहन को नाहीं
दूजा धोखा होय।"

सहज की साधना करते-करते सन्तों की दृष्टि सहज हो गई थी। इस सम्बन्ध में मैंने अपने 'दादू' (उपक्रमणिका १७६-१९८) में जो कुछ लिखा है, उसे दुहराने की ज़रूरत नहीं। दादू की उन वाणियों को देखकर आप सहज ही समझ सकेंगे कि कितने कठिन तत्त्वों को सन्तों ने कितनी सहज भाषा में समझाया है।

इस विषय में कबीर की शक्ति अतुलनीय है। आश्चर्यजनक सहज है उनकी दृष्टि। लेकिन सत्य के किसी अंश को छोड़कर उन्होंने अपनी दृष्टि को सहज नहीं किया। महासत्य से उन्होंने कभी भी बचने का प्रयत्न नहीं किया। लोगों ने उनसे पूछा, ईश्वर बाहर है कि भीतर? कबीर ने कहा—

"ऐसा लो नहिं तैसा लो.
मैं केहि बिधि करौं गँभीरा लो!
भीतर कहूँ तो जगमय लाजै,
बाहर कहूँ तो झूठा लो।"

द्वैत-अद्वैत तत्त्व को लेकर भारतवर्ष में न जाने कबसे तर्क-विचार चल रहा है। कहीं भी इसकी समाप्ति नहीं, अन्त नहीं। वे एक हैं या दो, इस प्रश्न के जवाब में बड़े-बड़े ज्ञानी पंडित हार मान गये; पर 'सहज'-मानव कबीर ने कहा—यदि वे रूप और गुण सबके अतीत हैं, तो संख्या से समय ही वे उसके अतीत क्यों नहीं होंगे?—

"बहुत ध्यान करि देखिया नहिं त्यहि संख्या आहि।"

बहुत से आदमी यह प्रश्न करते हैं, भारत की यह साधना, जो इतनी समृद्ध है, कब से चली आ रही है? बाउल लोग कहते हैं—'वेद तो उस दिन का है, हमारा सत्य चिर-दिन का है, क्योंकि उसका कोई आदि नहीं।'

इस प्रकार की प्राचीनता का दावा सुन-सुनकर लड़कपन में

हँसा करता था। बाद में देखा, वेद में भी मरमियों के सहज भाव का आभास है। यद्यपि ये बातें वैदिक धर्म में ठीक-ठीक अंगभूत नहीं हैं। इसके बाद मोहेनजोदड़ो प्रभृति की खोदाई से योग प्रभृति मतवाद की प्राचीनता के प्रत्यक्ष प्रमाण मिलने से जान पड़ता है कि इनका दावा नितान्त अयौक्तिक नहीं है। क्रमशः इन्हीं की सन्ततियों में तैर्थिक गण हुए। खूब सम्भव है कि उपनिषदों में पायी जानेवाली सत्यदृष्टि उन्हीं के साथ संघर्ष में आने का फल हो। वेदबाह्य मतों में जैन और बौद्धमत ही बाद में प्रत्याख्यात हुए हैं। यद्यपि इस प्रकार के और भी अनेक मत उन दिनों थे। इन्हीं सहज-वाद और भक्तिवाद के द्वारा ही हम बाहर के आदमियों को अपना सकते हैं। प्रेम का पंथ ग्रहणशील और आचार और कर्मकाण्ड का मार्ग अग्रहणशील है।

मुसलमान लोग जब हिन्दुस्तान में आये, तो भगवान् ने हिन्दुओं और मुसलमानों में योग स्थापना के लिए अपने इन सन्त-साधकों को एक-एक करके पठा दिया। रामानन्द से सन्तों की एक धारा चली। द्रविड़ भक्ति और उत्तर-भारत की एक शक्तिशाली योगदृष्टि दोनों को युक्त करके ही रामानन्द की धारणा थी—

"भक्ति द्राविड़ ऊपजी लाये रामानन्द।"

लेकिन फिर भी अनेक पंडित पूछा करते हैं 'हिन्दी-कविता के प्रारम्भ में चारण कवियों की युद्ध-गाथा ही क्यों दिखाई देती है! इन युद्ध-गाथाओं के बाद ही तो सन्त कवियों का युग है!' इसके उत्तर में कहना यह है कि शुरू-शुरू में सभी ग्रह अग्निमय थे। इसी-लिये पृथ्वी भी अग्निमय, वाष्पमय नाना युग अतिक्रम करके क्रमशः शस्य पादपश्यामला जीवधात्री धरित्री हो उठी। भाषा के इतिहास में भी ठीक एक ही पद्धति काम करती है।

हिन्दू-मुसलमानों की पहली देखा-देखी के बाद ही प्रथम युग में भाषा में मारा-मारी, काटा-काटी, द्वन्द्व-संघर्ष का इतिहास ही प्रधान